

छंद है यह फूल

अज्ञेय

छंद है यह फूल

(कविता-संचयन)

छंद है यह फूल

'अज्ञेय'

संपादक
कृष्णदत्त पालीवाल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

ISBN 978-81-7309-477-4 (PB)

•

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल

एन-77, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001

Publisher

Sasta Sahitya Mandal

N-77, First Floor, connaught circus, New Delhi-110 001

फोन / Phone : 23310505, 41523565

Visit us at : www.sastasahityamandal.org

E-mail : sastasahityamandal@gmail.com
manager@sastasahityamandal.org,

शाखा : 126, जीरो रोड, इलाहाबाद-211003

फोन : 0532-2400034

•

प्रथम संस्करण : 2010

मूल्य : 100/-

•

आवरण सज्जा : अंतिका आर्ट्स

मुद्रक : इंडिया बाइंडिंग हाउस, ए-98, सेक्टर-65, नोएडा

CHHAND HAI YAH PHOOL
by S.H. Vatsyayan 'Ajneya'
Price : Rs. 100/-

प्रकाशकीय

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' बहुमुखी प्रतिभा के धनी युगद्रष्टा साहित्यकार थे। यह वर्ष उनका जन्मशताब्दी वर्ष भी है। इस अवसर पर हमने, 'अज्ञेय' साहित्य को 'सस्ता साहित्य मंडल' के माध्यम से सर्वसुलभ करने की योजना बनाई है। इस क्रम में उनकी लगभग आधा दर्जन अनुपलब्ध बहुचर्चित पुस्तकों का पुनर्प्रकाशन पहले से ही किया जा चुका है।

यह संकलन अज्ञेय की प्रतिनिधि कविताओं का संचयन है। अज्ञेय ने हिंदी कविता को एक नई भाषा दी और नए प्रतिमान गढ़े जो आधुनिक हिंदी कविता के प्रस्थान बिंदु बन गए।

इस संकलन को आलोचक कृष्णदत्त पालीवाल ने बड़े ही मनोयोग से तैयार किया है। इस संकलन को पढ़ते हुए पाठक अज्ञेय के कवि व्यक्तित्व की विविध छटा से परिचित होंगे। आशा है अज्ञेय के इस प्रतिनिधि कविता संचयन से सुधी पाठक और अध्येता भरपूर लाभ उठाएँगे।

—सचिव

अनुक्रम

भूमिका

अज्ञेय : कवि हूँ—आधुनिक हूँ—नया हूँ।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' आधुनिक हिंदी साहित्य और पत्रकारिता के इतिहास का शीर्षस्थानीय नाम है। जो लोग उन्हें जीवन भर 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' का अमेरिकी दलाल सिद्ध करने की अकारण नीच राजनीति करते रहे हैं, आज उनके लिए भी इस नाम की महिमा को भूल पाना संभव नहीं है। कविता, कहानी, आलोचना, डायरी, यात्रा-संस्मरण, निबंधकार, उपन्यास, पत्रकारिता आदि सभी क्षेत्रों में वे शीर्षस्थानीय रहे हैं और हिंदी की ऐसी कोई विधा नहीं है जिस पर उनकी लेखनी की अमिट छाप नहीं है। अद्‌भुत बात यह है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में शीर्ष स्थानीयता को लेकर जो विवाद उठे थे, वे सभी आज ठंडे पड़ गए हैं। आज अज्ञेय भारतीय साहित्य का एक दुर्निवार नाम तो हैं ही, वे उन विरल भारतीय रचनाकारों में से हैं, जिन्होंने बीसवीं शताब्दी में लगभग पाँच दशकों तक भारतीय संस्कृति-सभ्यता, परंपरा, आधुनिकता, प्रगति-प्रयोग, काल की सर्जनात्मकता और संप्रेषणीयता, कवि कर्म की जटिलता, राग संबंधों के बदलाव, पाठक की पाठ—चेतना और भारतीय आत्म-बोध की आधुनिकता पर मूलगामी चिंतन किया है। रचना कर्म में सामाजिक—दायित्व, मूल्यों का संकट, व्यक्तित्त्व की खोज, प्रयोग की सार्थकता, नए उपमानों से जुड़े जटिल संवेदना के प्रश्न, रचनाकार का आत्मसंघर्ष, द्वंद्व-तनाव आदि जितने भारतीयता-परंपरा-आधुनिकता से जुड़े प्रश्न हैं, हम उन सभी प्रश्नों-सरोकारों के केंद्र में अज्ञेय को पाते हैं। एक रचनाकार के रूप में उनके रचना-कर्म का

विकास भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन की आंतरिक लय की शक्ति-धारा ने किया। भारतीय नवजागरण का यह दौर अज्ञेय के रचना-कर्म में अपनी गूँज-अनुगूँज के साथ सर्जनात्मकता में जज्ब मिलता है। नई स्थिति-परिस्थिति में नई चुनौतियों को भूलकर आगे बढ़ने का अदम्य आत्मविश्वास वे अर्जित करते हैं और बासी-लद्धड़ को ठेलकर किनारे करते चलते हैं। इसलिए वे सृजन को नया मोड़ देनेवाले निर्भय रचनाकार हैं। स्वाधीनता, स्वाधीन चिंतन और स्वाधीन रचनाकार व्यक्तित्व का अज्ञेय के लिए अर्थ है—मुक्ति की बहुआयामी तलाश। यह मुक्ति की बहुआयामी तलाश ही इस विद्रोही रचना-कर्म का केंद्रीय सरोकार है।

अज्ञेय के रचना—संघर्ष को बहुस्तरीय कहने के पीछे मेरी मंशा यह है कि वे प्रयोग-विश्वासी रचनाकार हैं और विरोधों से शक्ति पाते हैं। चोट खाकर वे घुटने नहीं टेकते, बल्कि निर्भय-मुद्रा में कहते हैं, 'मैं वह धनु हूँ जिसे साधने में प्रत्यंचा टूट गई है। स्खलित हुआ है बाण, यद्यपि ध्वनि दिग्दिगंत में फूट गई है—' अज्ञेय के सृजन बाण ने हिंदी सर्जनात्मकता के अंधकार को छाँटकर नया प्रकाश दिया है। उनकी शिक्षा-दीक्षा विज्ञान और अंग्रेज़ी में हुई और उन्होंने भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में प्राणों की बाज़ी लगा दी और जेल गए। इसलिए उनके रचना स्वर में संवेदन के न जाने कितने अनगिनत स्तरों पर मुक्ति भाव की महत्त्व प्रतिष्ठा है। प्रत्येक संस्कृति—समाज—भाषा की अपनी एक विशिष्ट परंपरा होती है, बल्कि एक संस्कृति विशेष में होने से ही विशिष्ट संवेदना-समाज, भाषा-उपमान, लय, टोन का संदर्भ जुड़ा होता है। परंपरा के भीतर से फूटती आधुनिकता ही सर्जनात्मक विकास का व्यंजक होती है। इसके साथ परंपरा-प्रयोग और आधुनिकता के सामने इतिहास की अपनी चुनौतियाँ होती हैं। भाव-संवेदना का नया 'पाठ' पुराने अभ्यास जड़ संस्कारों पर प्रहार करता है और बीहड़ों में नया मार्ग खोजता है। अज्ञेय कविकर्म का संकट झेलते हुए ही इस बीहड़ पथों से 'राही नहीं राहों के अन्वेषी' बन सके।

अज्ञेय के रचना-कर्म की अपूर्व आधुनिकता है नए प्रयोगों से नई राहों का अन्वेषण और अपनी पूरी समकालीन सृजन-पीढ़ी को साथ लेकर चलने का संकल्प। यह संकल्प ही नई स्थिति का तर्क बनता है—हारिल का प्रतीक

बनकर सामने आता है। 'उड़ चल, हारिल' कविता का संकल्प है—

उड़ चल, हारिल, लिए हाथ में
यही अकेला ओछा तिनका।
ऊषा जाग उठी प्राची में—
कैसी बाट, भरोसा किनका!

शक्ति रहे तेरे हाथों में—
छुट न जाए वह चाह सृजन की,
शक्ति रहे तेरे हाथों में—
रुक न जाए यह गति जीवन की!

ऊपर-ऊपर-ऊपर-ऊपर
बढ़ा चीरता चल दिग्मंडल!
अनथक पंखों की चोटों से
नभ में एक मचा दे हलचल!

तिनका? तेरे हाथों में है।
अमर एक रचना का साधन—
तिनका? तेरे पंजे में है
विधना के प्राणों का स्पंदन!

काँप न, यद्यपि दशों दिशा में
तुझे शून्य नभ घेर रहा है,
रुक न, यद्यपि उपहास जगत् का
तुझको पथ से हेर रहा है;
तू मिट्टी था, किंतु आज
मिट्टी को तूने बाँध लिया है,

तू था सृष्टि, किंतु स्रष्टा का
गुर तूने पहचान लिया है!

मिट्टी निश्चय है यथार्थ, पर
क्या जीवन केवल मिट्टी है?
तू मिट्टी, पर मिट्टी से
उठने की इच्छा किसने दी है?

आज उसी उर्ध्वंग ज्वाल का
तू है दुर्निवार हरकारा
दृढ़ ध्वज-दंड बना यह तिनका
सूने पथ का एक सहारा!

मिट्टी से जो छीन लिया है
वह तज देना धर्म नहीं है;
जीवन साधन की अवहेला
कर्मवीर का कर्म नहीं है!

तिनका पथ की धूल, स्वयं तू
है अनंत की पावन-धूली—
किंतु आज तूने नभ-पथ में
क्षण में बद्ध अमरता छूली!

ऊषा जाग उठी प्राची में—
आवाहन यह नूतन दिन का:
उड़ चल, हारिल, लिए हाथ में
एक अकेला पावन तिनका!

पूरी कविता के ध्वन्यर्थ में कवि मानस का अरमान अपनी अपूर्वता में चकित करनेवाला है। यहाँ काव्य वर्णन और दर्शन इन दोनों प्रक्रियाओं के एक साथ

घटित होने पर आकार लेता है और यह कवि मंतव्य का सारसर्वस्व है। भारतीय चिंतन की परंपरा यहाँ हज़ार-हज़ार जीभों से बोलकर कह रही है कि जो ऋषि नहीं है—वह कवि नहीं है। यहाँ रचना के दोनों पक्ष अभिनव गुप्त के शब्दों में कहें तो 'प्रख्या' और 'उपाख्या' उपस्थित हैं। इस शब्द-परंपरा में काव्य-विषय काव्य-परंपरा के रूप में उपस्थित है। कवि प्रतिभा का तीसरा नेत्र 'साक्षात्कार रूपिणी प्रतिभा' के रूप में खुला है। अज्ञेय के कवि-कर्म का ध्वन्यालोक नया डिस्कोर्स या विमर्श-भाष्य चाहता है। कविता की मूल प्रेरणा वह वाक् है, जिसे (वाक् को) विश्व की जननी कहा गया है। इसी वाक् का प्रतिफलन है शब्द और शब्द के पीछे अर्थ-बोध की चेतना। अज्ञेय का संस्कार वाक् को देखता है, वाक् को सुनता है और नवीन अभिनव भारती से वाक् की प्रतिपत्ति करता है। यहाँ वाक् ही प्रतिभा है, जो वाग्वैदग्ध से नए-नए रूपों की सृष्टि करती है। यह अनुभव उस वेद के कवि की तरह है, जिसने अनुभव किया कि सात लगामोंवाला, सहस्रों आँखोंवाला तेजस्वी समय रूपी अश्व अपने असंख्य चक्रों से विश्व को रौंदता हुआ भाग रहा है—पर कवि और विद्वान ये दोनों उस कालरूपी अश्व का आरोहण करके उसे स्वाधीन कर लेते हैं। सब कुछ चक्कर खाता हुआ बदल रहा है, मर रहा है, लेकिन अमर है। अज्ञेय के कवि-कर्म का यह आलोक जयशंकर प्रसाद की तरह है। नई कविता के सिद्धांतकार-भाष्यकार, कवि-आलोचक विजयदेव नारायण साही ने कहा है—"अज्ञेय की समानता दुनिया भर के तमाम कवियों से खोजने की कोशिश की गई है और अक्सर उन्हें हिंदी के लिए 'बाहरी' आदमी समझा गया है। हिंदी साहित्य का स्रोत जो लोग हिंदुस्तान से बाहर, खासतौर से अंग्रेज़ी में खोजने की कोशिश करते हैं, वे यदि छोटे मुँह बड़ी बात न लगे तो कहना चाहूँगा, इसी कारण करते हैं कि उनका ज्ञान अंग्रेज़ी साहित्य के बारे में बहुत थोड़ा है। दुनिया के यदि किसी कवि से अज्ञेय की निकटता दिखती है, तो वह जयशंकर प्रसाद से। वे दोनों एक ही सिमिट्री की दो विपरीत दिशाएँ हैं, जिसके 'वेश' में तीसरे दशक की खंडित चेतनावाली मनोभूमि है।" (छठवाँ दशक, पृ. 78) हिंदी के जो आलोचक अज्ञेय को टी. एस. एलियट की कार्बन कॉपी कहकर बदनाम करते रहे हैं, उन्हें साही जी के इस कथन की सत्यता पर विचार-बहस करनी चाहिए। और वे आलोचक, जो अज्ञेय

को रीतिवादी, कलावादी, रूपवादी, व्यक्तिवादी कहते रहे हैं और साथ ही यह भी कहते रहे हैं कि हिंदी कविता में अज्ञेय का वही स्थान है, जो रीतिकाल में बिहारीलाल का है। अर्थात् अज्ञेय को वे नई कविता का बिहारी लाल कहते हैं। इस तरह की प्रपंच बुद्धि से उपजी आलोचना के कारण आज भी अज्ञेय का मूल्यांकन उपेक्षित पड़ा रहा है। शायद ही अपने समय की आलोचना से किसी लेखक को इतना अंधा विरोध झेलना पड़ा हो, जितना अज्ञेय को। एक विचारधारा विशेष के आलोचकों ने मुक्तिबोध को प्रगतिशील और अज्ञेय को प्रतिक्रियावादी घोषित करने का अभियान ही चलाया हुआ है।

जीवन भर विरोध और प्रशंसा में जीनेवाले अज्ञेय का दावा कवि और मनुष्य दोनों बनने का रहा। जब कभी कोई सर्जनात्मक वैचारिक चुनौती उन्हें मिली उन्होंने अपने कवि मन को ढिल्लड़ सिद्ध नहीं किया—एक रचनात्मक तनाव से उस पर विजय पाई। क्रांतिकारी रूप में, फासिज़्म के विरोधी रूप में, स्वाधीनता के पक्षधर रूप में, पत्रकार के रूप में वे उस चुनौती की आग में कूदे बिना रह नहीं सके। प्रियता-अप्रियता की उन्होंने परवाह नहीं की और अतीत में जीकर वर्तमान में जिए—एकदम अनासक्त होकर। पश्चिम को डटकर पढ़ा लेकिन पश्चिमी-सृजन और चिंतन के गुलाम नहीं बने। पश्चिम का प्रभाव ग्रहण किया और इस प्रभाव ने उनकी भारतीयता को अधिकाधिक माँजकर निखार दिया है। 'नया कवि: आत्मस्वीकार' कविता का भाष्य पाठक करता है, तो इस सर्जनात्मकता की नवता का साक्षात्कार कर सकता है और उस भारतीयता का भी। जो 'अन्य' से नहीं बिदकती। कहीं का भी 'प्रभाव' ग्रहण करने में उन्हें परहेज़ नहीं है—प्रभाव ग्रहण करना प्रबुद्ध जागरूक व्यक्ति का लक्षण है। व्यक्ति ही नहीं संस्कृतियाँ प्रभाव ग्रहण करती हैं और अपने को समृद्ध करती हैं—

किसी का सत्य था,
मैंने संदर्भ में जोड़ दिया।
कोई मधुकोष काट लाया था
मैंने निचोड़ लिया।

किसी की उक्ति में गरिमा थी

मैंने उसे थोड़ा-सा सँवार दिया
किसी की संवेदना में आग का-सा ताप था
मैंने दूर हटते-हटते उसे धिक्कार दिया।

कोई हुनरमंद था:
मैंने देखा और कहा, 'यों'।
थका भारवाही पाया—
घुड़का या कोंच दिया, 'क्यों'।

किसी की पौध थी,
मैंने सींची और बढ़ने पर अपना ली,
किसी की लगाई लता थी,
मैंने दो बल्ली गाड़ उसी पर छवा ली।

किसी की कली थी
मैंने अनदेखे में बीन ली,
किसी की बात थी,
मैंने मुँह से छीन ली।

यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ:
काव्य-तत्त्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ?
चाहता हूँ आप मुझे
एक-एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें
पर प्रतिमा—अरे, वह तो
जैसी आपको रुचे आप स्वयं गढ़ें।

शब्द के अद्भुत पारखी स.ही. वात्स्यायन भणोत सारस्वत ब्राह्मण कुल (कर्मारपुर जालंधर) के थे। उनके पिता हीरानंद शास्त्री भारत के पुरातत्त्व विभाग में उच्च अधिकारी थे। वे संस्कृत संस्कार के क्लासिक परंपरा के पंडित थे और स्वाभिमानी

देशभक्त। अज्ञेय ने अपने पिता से 'अनुशासन' में रहना भी सीखा और निर्भयता का मंत्र भी पाया। वे पिता में अधिक अनुरक्त रहे—माँ के प्रति कम। इसलिए उनके मानसिक निर्माण में पिता की बहुत दूर तक भूमिका रही है। उन्हें माँ की अपेक्षा बड़ी बहन और बुआ से अधिक लाड़-दुलार मिला। अज्ञेय का सहज पौरुष पैतृकदाय है और किसी से दान न लेने का आग्रह। प्रसाद जी के चाणक्य का स्वर उनमें सृजन और चिंतन दोनों स्तरों पर गूँजता मिलता है: ब्राह्मण न किसी के राज में जीता है—न किसी के अन्न से पलता है—स्वराज में विचरता है और अमृत होकर जीता है।' उन्होंने बचपन से यायावरी वृत्ति पाई और हर तरह के कार्य करने-सीखने का अभ्यास किया। अत्यधिक व्यवस्था-प्रियता के कारण वे फटकार लगाने में भी पीछे नहीं रहे।

अज्ञेय का जन्म फाल्गुन शुक्ल सप्तमी संवत् 1967 तद्नुसार 7 मार्च, 1911 को (कसया, जिला देवरिया) पुरातत्त्व खुदाई शिविर में हुआ। बचपन लखनऊ में बीता। घर पर ही शिक्षा का आरंभ संस्कृत की और मौखिक परंपरा से हुआ। 1915 से 1919 ई. तक श्रीनगर और जम्मू में रहे। यहीं पर संस्कृत, फ़ारसी और अंग्रेज़ी की शिक्षा घर पर संस्कृत पंडित, फ़ारसी के मौलवी और अमेरिकी पादरी से सीखी। दोनों बड़ी बहनें उनसे स्नेह करती थीं और दोनों बड़े भाई स्पर्धा। छोटे भाई वत्सराज के प्रति सच्चिदानंद का स्नेह बचपन से था। 1919 से 25 ई. तक पिता के साथ नालंदा में रहे और पिता ने हिंदी सिखाई। इसलिए हिंदी अज्ञेय जी के लिए सीखी हुई भाषा थी और पिता ने संस्कारी हिंदी का पाठ पढ़ाया। हीरानंद शास्त्री नालंदा से पटना आए और काशी प्रसाद जायसवाल, राखालदास बनर्जी से परिवार की प्रगाढ़ता बढ़ी। पटना में ही अंग्रेज़ी से विद्रोह के बीज अज्ञेय में अंकुरित हुए। सच्चिदानंद से (अज्ञेय का) बचपन में छोटा नाम 'सच्चा' पड़ा और सच्चा चुपचाप रहता था—चुप्पा। यहाँ 'सच्चा' ने बँगला सीखी और इंडियन प्रेस से छपी बाल-भोज, इंदिरा (वंकिमचंद्र), बाल रामायण, बाल महाभारत जैसी पुस्तकों को पढ़ने का सुयोग पाया। इसी समय में राखालदास बनर्जी और हरिनारायण आप्टे को पढ़ा। फिर 1921-25 तक ऊटक मंड में रहे तथा नीलगिरी की उपत्यका का सौंदर्य चेतना को भाता गया। 1921 में ही उडिपी के मध्याचार्य के द्वारा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और इसी मठ में रहकर छह मास तक तमिल-

संस्कृत की शिक्षा पाई। इसी समय 'भणोत' से वे 'वात्स्यायन' बने। प्रथम बार 'गीता' का अमृत स्वाद पाया और अनेक धर्मग्रंथों की डूबकर अंतर्यात्रा की। 'वड्र्सवर्थ, टेनीसन, लांगफेलों और वाल्टह्विटमैन की कविताओं का चस्का और फिर शेक्सपियर, मार्लो के नाटक, थैक्टे, लिटन, जार्ज एलियट, गोल्डस्मिथ, टॉल्सटॉय, तुर्गनेव, विक्टर ह्यूगो, गोगोल, मेलविल आदि के उपन्यास पढ़े। सबसे यादा प्रभाव टेनीसन की लयबद्धता का मन पर पड़ा। अज्ञेय ने बचपन को याद करते हुए 'कवि नायक अज्ञेय' के एक साक्षात्कार में कहा, 'तेज़ गति का हमेशा आकर्षण रहा—तेज और लययुक्त गति का।' अज्ञेय के रचना-कर्म में दो स्थायी भाव-विभाव मौजूद हैं—लय का आकर्षण और रागदीप्त सच के प्रति गहन निष्ठा। यह निष्ठा ही इस कवि-कर्म में नीलकंठ शिव है।

बाकी बचपन की यादों में पढ़ाई की उतनी स्मृतियाँ नहीं हैं, जितनी पशु-पक्षियों की हैं। पिता जी को भी जानवरों को पालने का शौक था। गाय और घोड़ा तो खैर सामान्य बातें हैं। लेकिन मोर भी पाले गए घर में, एक बार हिरन भी पाला गया, खरगोश पाले गए, चकोर पाला गया। ये सब पक्षी पिंजरों में नहीं रखे जाते थे, खुले रखे जाते थे। इसलिए घर में ही घूमते रहते थे। पिता जी का काम पुरातत्त्व का था। वह हमेशा कहीं-न-कहीं देहात में, जंगलों में, खंडहरों में खुदाई करवाते रहते थे। प्रकृति का निकट साहचर्य बहुत मिलता रहा और अकेले रहने का अभ्यास भी काफ़ी। इसे सुयोग ही कहना चाहिए। जो लोग प्रयोगवाद-नई कविता में 'प्रकृति' की कमी की शिकायत कहते हैं—उन्हें अज्ञेय के सृजन में 'प्रकृति' की भूमिका को देखना चाहिए। यहाँ प्रकृति की लयात्मकता को मानव-मन में प्रवेश करते पाया जा सकता है। 'पानी बरसा' गीत में वे 'घास हरी हुलसानी / मानिक के झूमर-सी झूमी मधुमालती / झर पड़े जीते पीत अमलतास/ चातकी की वेदना बिरानी / बादलों का हाशिया है आसपास...।' या फिर 'दूर्वाचल' कविता में 'पार्श्वगिरि का नम्र, चीड़ों में / डगर चढ़ती उमंगों-सी / बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा / विहग-शिशु मौन नीड़ों में / मैंने आँख भर देखा।' यही है वह आँख जो नंदा देवी की कविताओं में प्रकृति का विनाश देखती है तो बेचैन हो जाती है।

अज्ञेय ने माँ के साथ जलियाँवाला बाग कांड के आसपास पंजाब की यात्रा

की और उनके भीतर अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह की भावना का बीजारोपन हुआ। उनके पिता स्वयं कभी-कभी अंग्रेज़ी राज की पराधीनता की पीड़ा व्यक्त करते थे और ब्लैकस्टोन अंग्रेज़ की बदमाशी की चर्चा करते थे। अज्ञेय ने 1925 में पंजाब से मैट्रिक किया और इंटर में साइंस पढ़ने मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज गए। यहीं उन्होंने अंग्रेज़ी के प्रोफेसर हंडरसन से साहित्य अध्ययन की प्रेरणा पाई। इसी प्रोफेसर को अज्ञेय ने अपना निबंध-संग्रह 'त्रिशंकु' समर्पित किया है। इन्हीं के साथ टैगोर अध्ययन मंडल की स्थापना की और रस्किन के सौंदर्यशास्त्र का अध्ययन किया। कला क्षेत्रों के बीच रमने से राग-बोध परिपक्व हुआ और दक्षिण के मंदिरों का सौंदर्य, नीलगिरि के दृश्य उनकी मानसिकता में रच-बस गए। मद्रास में ही जाति के विरुद्ध विद्रोह के बीज का अंकुर फूटा। 1927 में लाहौर के फार्मन कॉलेज में वे बी.एस.सी. में भर्ती हुए। इसी कॉलेज में वे नवजवान सभा के संपर्क में आए और 'हिंदुस्तान' सोशलिस्ट रिपब्लिक आर्मी के प्रमुख सदस्य चंद्रशेखर आज़ाद, सुखदेव और भगवतीचरण वोहरा के संपर्क में आए। यहीं से वे क्रांतिकारी आंदोलन से सक्रिय रूप से जुड़ गए। फिर एम. ए. (अंग्रेजी) में दाखिल हुए और क्रांतिकारी दल से जुड़ने के कारण एम. ए. फाइनल नहीं दे पाए। कॉलेज के अध्यापक जे. एम. बनेड और डेनियल से प्रभावित हुए और जेल जाने पर भी उनसे प्रगाढ़ संपर्क रहा। भौतिक शास्त्र के अध्यापक बनेड ने विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा दी। वे ब्राडनिंग की ओर मुड़े और 1929 से 1936 तक क्रांतिकारी का जीवन जिया। एक बार भगत सिंह को छुड़ाने का प्रयत्न किया किंतु भगवतीचरण वोहरा के शहीद हो जाने के कारण कार्यक्रम में परिवर्तन करना पड़ा। फिर दिल्ली में 'दिल्ली-हिमालयन टायलेट्स फैक्ट्री' के बहाने बम बनाने का कारखाना कायम हुआ। उस फैक्टी में अज्ञेय वैज्ञानिक सलाहकार रहे और यहीं देवराज तथा कमल कृष्ण के साथ 15 नवंबर 1930 को गिरफ्तार किए गए। एक महीने लाहौर किले में, फिर अमृतसर की हवालात में। यहीं से यातना का दौर शुरू हुआ। आर्म्स ऐक्टवाले मुकदमे से छूटे, किंतु 1931 में दिल्ली में फिर नया मुकदमा शुरू हुआ, जो 1933 तक चला। दिल्ली जेल की कालकोठरी में छायावाद पढ़ा और माखनलाल चतुर्वेदी तथा अपने स्थानीय गुरु मैथिलीशरण को मथ डाला। जेल में

रात-रात भर माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'कैदी और कोकिल' का जोर-जोर से गाकर पाठ किया करते, 'इस तरह मधुर विद्रोह बीज बोती क्यों हो कोकिल बोलो तो।' यहीं रहकर 'चिंता', 'विपथगा', 'कोठरी की बात' और 'शेखर' लिखा और यातना-वेदना और मृत्यु के विजन का अर्थ जाना। 1934 में नज़रबंदी से छूटे। तो भाई और माता की मृत्यु तथा पिता जी का रिटायरमेंट पाया। रावी के पुल से छलाँग लगाने से घुटने की टोपी टूटी और वह दर्द जीवन भर झेला। इन घटनाओं के कारण एकाकीपन का अभ्यास बढ़ा।

लाहौर के कांग्रेस अधिवेशन में कांग्रेस का लक्ष्य 'औपनिवेशिक स्वराज' से बदलकर 'पूर्ण स्वराज' कर दिया गया। यहाँ अज्ञेय ने ब्रेडला हॉल में सरोजिनी नायडू को देखा और सुना। फिर उनसे मिलना हुआ और अज्ञेय को देखकर कहा, 'हाँ, यह बात हुई न, कवि को कवि जैसा दिखना चाहिए। स्वस्थ स्वरूप नहीं होगा तो कहाँ का कवि।' फिर कहा, 'अब तक हिंदी का एक कवि मेरा परिचित था—बालकृष्ण शर्मा नवीन, आज दूसरा देखा—हेंडसम एंड स्ट्रांग'। अज्ञेय ने 'राष्ट्रकवि' शीर्षक 'स्मृति लेखा', के संस्मरण में कहा, ''स्व. श्री मैथिलीशरण गुप्त (दद्दा) मेरे गुरु स्थानीय थे। स्वयं उन्हें यह बात आसानी से स्वीकार्य न होती, क्योंकि इस शिष्य की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ उन्हें नापसंद थीं। लेकिन मैं तो जानता हूँ बचपन से ही, जब से हिंदी बोलना और फिर पढ़ना सीखा, उन्हीं की कविता पर पलकर किशोर हुआ—'निज मातृभूमि स्वदेश के गोदी भरे हम लाल हैं।' दद्दा में प्राचीनता के प्रति आकर्षण, नवीन आंदोलनों के प्रति सजगता और नवीन साहित्य प्रवृत्तियों के प्रति प्रबल राग था। इसी राग के कारण वे अज्ञेय का उपन्यास 'शेखर :एक जीवनी' विक्षुब्ध होने के बाद झेल गए, जबकि देश भर में जगह-जगह अश्लील कहकर 'शेखर' की प्रतियाँ जलाई गईं। लेकिन अज्ञेय इन रुढ़िवादियों के सामने न झुके, न क्षमा माँगी, न मन में कोई ग्रंथि ही पाली। आगरे में साप्ताहिक पत्र 'सैनिक' और फिर 'विशाल भारत' में अज्ञेय का तेवर परंपरावादियों से अलग रहा।

अज्ञेय में रायकृष्ण दास के प्रति अगाध श्रद्धा रही। वे रायकृष्ण दास को 'स्मरण का स्मृतिकार' कहते हैं। उनकी दृष्टि में रायकृष्ण दास एक ऐसे अहिंसक राष्ट्रीय आंदोलन के स्मृति-यंत्र थे, जिनमें बदला लेने का तो कोई सवाल ही नहीं

था, बल्कि जिसके स्वाधीनता-प्रेम को भी एक ऐसा गौरव बोध अनुप्राणित किया था जो दृष्टि को उदार बनाता था, जिसके लिए स्वांधीनता केवल राजनीतिक सीमा में बँधी हुई नहीं थी, बल्कि जिसके सांस्कृतिक आयाम इतने व्यापक थे कि उसमें साहित्य और कला, दर्शन और साहित्य सब समा जाते थे। यह स्मृति अतीत का जीवंत और अर्थगर्भ प्रतिलेख तैयार करती रही है। अज्ञेय जी ने उन्हीं से सीखा था कि आभिजात्य के मनोभाव से मुक्ति पाना रचनाकार के लिए आवश्यक शर्त है और श्रेष्ठ संस्कारों को ग्रहण करना सार-तत्व अज्ञेय की धर्म और इतिहास, दर्शन और पुराण, साहित्य और कला, भाषा और लोक-संस्कृति में सूझ अद्भुत थी। यह ज्ञान उन्होंने 'अरे यायावर रहेगा' और 'एक बूँद सहसा उछली' की यायावर वृति से अर्जित किया था। जीवन के उत्तरार्द्ध में तो वे द्वारका-वृंदावन-सीतामढ़ी, नार्मदा के तटों पर शिविर लगाकर यात्राएँ करते रहे ताकि भारतीय-संस्कृति की भारतीयता से साक्षात्कार कर सकें, उनका अर्थ पा सकें।

पाठकों में यह जिज्ञासा बार-बार सिर उठाती रही है कि उनका नाम अज्ञेय क्यों पड़ा? इस नाम की एक कहानी है। अज्ञेय जी जेल में थे। उन्होंने अपनी कहानियाँ प्रेमचंद के पत्र 'जागरण' में छापने के लिए जैनेंद्र कुमार के पास भेजीं। जैनेंद्र ने कहानियाँ प्रेमचंद को भेज दीं। प्रेमचंद को दो कहानियाँ बहुत पसंद आईं—एक कहानी बहुत गरम थी, उसे छापना जोखिम का काम था। प्रेमचंद ने जैनेंद्र को छापने की सूचना देते हुए पूछा, 'लेकिन तुमने यह तो बताया ही नहीं कि लेखक कौन है?' इसके उत्तर में जैनेंद्र जी ने उन्हें लिखा, 'लेखक कौन है यह तो मैं नहीं बता सकता — वह अज्ञेय है।' आशय था कि लेखक तो षड्यंत्र केस का बंदी है और कहानियाँ भी अवैध तरीके से बाहर भेजी गई हैं। ऐसी स्थिति में नाम भी कैसे बताया जा सकता है। इस पर प्रेमचंद ने लिखा, 'कहानी तो मैं छाप रहा हूँ। तब मैं अज्ञेय नाम से ही छाप दूँ।' इस तरह जैनेंद्र-प्रेमचंद दोनों का योग वात्स्यापन जी को 'अज्ञेय' नाम देने का है। उसके बाद जेल से बाहर आकर उन्होंने अपने रचनात्मक के लिए 'अज्ञेय' नाम अपना लिया। वे पत्रकारिता में स. ही. वात्स्यायन लिखते हैं — संपादन इसी नाम से करते हैं — लेकिन कविता-कहानी-उपन्यास-संस्मरण आदि रचनाकार-विधाओं में 'अज्ञेय' नाम का प्रयोग करते हैं और ललित निबंध लिखने पर अपना नाम 'कुट्टियातन' रख लेते हैं।

अज्ञेय ने सतही पैमानों से साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपराओं को समझने की भूल नहीं की। न केवल रचना को 'सिपाही' माना, न केवल 'चेतना का वाहक'। उसे पूरे बोध से 'जाग्रत नीतिप्राण साामजिक चेतना का वाहक माना। इस दृष्टि से वे प्रेमचंद की बहुत कद्र करते थे और निराला पर अभिमान। निराला को वे' 'वसंत का अग्रदूत' मानते थे और 'राम की शक्ति पूजा' तथा 'बादल राग' से प्रभावित थे। ''लेकिन 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ, तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उससे भी विलक्षण यह कि यह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता दीखता है।'' (स्मृति-लेखा) निराला की यह रचना जीवंत चलचित्र है और इसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित होती है। सुमित्रानंदन पंत 'स्वरसिद्ध' कवि अज्ञेय की दृष्टि में इसलिए हैं कि पंत एक ओर प्रकृति, दूसरी ओर भाषा के साथ गहरा और संवदेनशील रिश्ता बनाने में सक्षम हैं। उनसे अज्ञेय ने सीखा है। इसी तरह माखनलाल चतुर्वेदी को 'एक भारतीय आत्मा' का प्रतीक मानते हैं और प्रेरणा नायक भी। कवि-वत्सला होमवती के प्रति उजले राग का पावन-विस्तार है तो फणीश्वरनाथ रेणु को 'धरती का धनी' कहकर स्मरण करते हैं। दिनकर को 'समय सूर्य' और आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी को 'बीसवीं सदी का बाणभट्ट' मानते हैं। अज्ञेय के मानस में माखनलाल चतुर्वेदी के साथ बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' रचे-बसे हैं—उन्हें वे 'असीम और ससीम बीच' की कड़ी कहकर आदर देते हैं। इस तरह ज़ाहिर है कि अज्ञेय की पूरी मानसिकता का निर्माण इन सांस्कृतिक नवजागरण के महान रचनाकारों ने किया है।

सन् 1936 में कर्मक्षेत्र में आते ही आश्रम खोलने का विचार बना। फिर 'सैनिक' में चले गए और साल भर रहे। इसी समय मेरठ किसान आंदोलन में काम किया और प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा, भारत भूषण अग्रवाल और नेमिचंद से परिचय और आत्मीयता बढ़ी। गांधी के प्रति श्रद्धा उमड़ी और बाद में नेहरू की ओर आकर्षण बढ़ा। 1937 में कलकत्ता 'विशाल भारत' में गए। बनारसीदास चतुर्वेदी के साथ काम किया। उन्हीं दिनों कई तरह की कहानियाँ लिखीं। कलकत्ते के अनुभव से बहुत सीखा और द्वितीय महायुद्ध शुरू होते ही दिल्ली आ गए। कुछ समय तक रेडियो में कोश कार्य किया। साथ ही संवादों की

भाषा को गढ़ने का कार्य भी किया।

यायावर अज्ञेय ने पिता की इच्छा के विरुद्ध 1940 में बंगाली महिला संतोष से सिविल मैरिज कर ली और बहुत कष्ट पाया। इन्हीं दिनों उनकी प्रगतिशीलों से ठन गई और जीवन-पर्यंत ठनी रही। प्रगतिशीलों ने उन्हें फासिस्ट कहना शुरू किया। डॉ. रामविलास एक तरफ़, अज्ञेय दूसरी तरफ़। इस रस्साकशी ने हिंदी आलोचना का बहुत अहित किया। फिर क्रांतिकारी विचारों के अज्ञेय सेना में भर्ती हो गए। इस क्षेत्र का अनुभव रचना-कर्म में बड़े काम आया। अज्ञेय का कथन है, ''उस सामग्री से मैं' फिर कहानियाँ भी लिखीं और कहानियाँ नहीं लिखीं तो कम-से-कम मेरे मानस की रचना में उन अनुभवों का काफी महत्त्व का योग रहा।'' (कविनायक अज्ञेय, पृ.73) अज्ञेय ने 'प्रतीक' निकाला तो उसमें कुट्टियातन नाम से लिखा। वैसे भी जब-तब छद्म नामों से लिखा और हास्य-व्यंग्य की रचनाएँ लिखीं। अज्ञेय मनहूस रचनाकार नहीं थे—उनका हास्य-व्यंग्य अपनी शिष्टता से हृदयस्पर्शी था। अज्ञेय के चेहरे पर चिंतन का तनाव रहता था, वे चुप रहते थे। लेकिन यह प्रचार झूठा है कि वे मनहूस चुप्पा थे। सेना में रहते हुए उन्होंने असम की जन-संस्कृति और वन वैभव को भीतर से महसूस किया और इस पृष्ठभूमि पर कहानियाँ लिखीं। सन् 1945 तक तीन कहानी-संग्रह — 'विपथगा', 'परंपरा' और 'कोठरी की बात', तीन कविता-संग्रह — 'चिंता', 'इत्यलम' और 'भग्नदूत' तथा हिंदी उपन्यास को नया मोड़ देनेवाला उपन्यास 'शेखर' छप गया और इसी बीच वे 'तारसप्तक' (1943) का संपादन कर चुके थे।

'तारसप्तक' के छपते ही हिंदी-साहित्य में भूचाल आ गया। अज्ञेय द्वारा संपादित काव्य-संकलन 'तारसप्तक' से लोक विद्रोही आधुनिकता और सर्जनात्मकता का सूत्रपात होता हुआ दिखाई देता है। इस 'तारसप्तक' के प्रकाशन से साहित्य से जुड़ी तमाम अवधारणाओं, चिंताओं, प्रश्नाकुलताओं को बहस-विवाद-संवाद के केंद्र में आने का मौका मिला। प्रगतिवाद-प्रयोगवाद की काव्य-धाराओं के रचनाकार यहाँ एकसाथ हाथ मिलाकर खड़े हुए और बड़ा भारी वैचारिक (धाराओं) कोलाहल पाठकों को चौंकाकर आत्म सजग करने लगा। 'तारसप्तक' का आयोजन और संपादन अज्ञेय करते हैं, लेकिन यादातर शामिल कवि रामविलास शर्मा,

नेमिचंद जैन, भारत भूषण अग्रवाल, ग. मा. मुक्तिबोध-साम्यवादी-मार्क्सवादी। गिरिजाकुमार और प्रभाकर माचवे भी प्रगतिशीलता की ओर उन्मुख। केवल अज्ञेय ही यौन-प्रतीकों से लदे फ्रायडवादी और क्रांतिकारी। 'तारसप्तक' की भूमिका को लेकर विद्वानों में महाभारत शुरू हो गया और इस बहस में तूफ़ान उठा कि 'तारसप्तक' की योजना किसकी थी। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने 'तारसप्तक' पर 'प्रयोगवादी-रचनाएँ' शीर्षक से 'आधुनिक साहित्य' पुस्तक में एक ध्वन्यात्मक लेख लिखकर अज्ञेय को ही धूल में ध्वस्त करने का हौसला दिखाया। वाजपेयी जी का यह लेख 'तर्क विकृति' का अनुपम उदाहरण है। 'तारसप्तक' की भूमिका ने सातों कवियों को 'नई राहों का अन्वेषी' कहा है। इन सभी को एक काव्य-अन्वेषी का दृष्टिकोण समानता के सूत्र में बाँधता है, जबकि साहित्य के अन्य विषयों को लेकर उनमें मतैक्य नहीं है। अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' 1951 में निकालकर 'तारसप्तक' के आक्षेपों का उत्तर दिया। फिर 'तीसरा सप्तक' 1959 और 'चौथा सप्तक' का संपादन किया और 'पाँचवें सप्तक' का विचार लिए हुए वे इस संसार से विदा हो गए। अज्ञेय ने समर्पित भाव से संपादन कार्य किया और 'रूपांबरा'—जैसी अद्‌भुत चीज़ हिंदी को दी है। उन्होंने 'साहित्य का परिवेश', 'सर्जन और संप्रेषण', 'साहित्य और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया', 'सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा', 'भारतीय कलादृष्टि' और 'समकालीन कविता और छंद' आदि विषयों पर अपने संपादन कर्म से मौलिक सामग्री प्रस्तुत की है। नए-नए विषयों पर संवत्सर व्याख्यान, वत्सल निधि व्याख्यानों का आयोजन किया और भाषणों को पुस्तकाकार छपवाकर दूर-दूर के पाठकों तक पहुँचाया।

'दूसरा सप्तक' तथा अपने निबंधों में अज्ञेय ने नई सैद्धांतिक स्थापनाएँ की, जिनका हिंदी की आलोचना पर गहरा प्रभाव पड़ा। 'तारसप्तक' में साधारणीकरण, संप्रेषण की समस्या, काव्य-भाषा या वागर्थ प्रतिपत्ति के प्रश्नों को उठाया। अपने कवि-वक्तव्य में कवि कर्म की चुनौतियों पर नया चिंतन प्रस्तुत किया। अज्ञेय ने 'तारसप्तक' में जो कहा था उसका विस्तार 'दूसरा सप्तक' में करते हुए कहा कि 'जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है वैसे-वैसे उससे हमारे रागात्मक संबंध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा संबंध टूट जाता है।' अज्ञेय ने 'लीक जो हमको मिली थी

अंधी गली थी', उस लीक को छोड़कर नए-नए काव्य प्रयोग किए और भाषा को अपर्याप्त पाकर संप्रेषण के संघर्षों, नए अनुभवों में अपने को झोंक दिया। संप्रेषण की नई स्थिति-परिस्थिति के कारण ही कविता के स्वरूप और प्रकृति में आ रहे बदलावों का स्पष्ट बोध कराया और कहा कि विधाएँ मुद्रित पठित रूप में आ रही हैं।

अज्ञेय हिंदी साहित्य के पहले रचनाकार और आलोचक हैं जिन्होंने सृजन-कर्म में काल-बोध की समस्या पर गहन चिंतन किया है। इस तरह का पहला निबंध है — 'काल का डमरू नाद' और उनकी पहली पुस्तक 'संवत्सर' के निबंध। छपाई की स्थिति में काल का एक आयाम खो जाता है, जबकि वाचिक परंपरा में वाचक और सामाजिक दोनों में दुहरा काल-बोध होता है। आज के बदलाव में 'सहृदय-समाज' का स्थान 'आडिएँस' एक 'मास आडिएँस' ले लेती है जिसका कोई चेहरा नहीं होता। वहाँ केवल उपभोक्ता समुदाय होता है। 'त्रिशुंक' के निबंधों से लेकर जीवन के अंतिम क्षणों तक अज्ञेय इस बात को लेकर सजग रहे हैं कि बाज़ार और राजनीति के बदलाव साहित्य और संप्रेषण को किस तरह प्रभावित करते हैं। अज्ञेय पहले आधुनिक बौद्धिक सर्जक हैं जो परंपरा को इतिहास के संदर्भों में रखकर विचार करते हैं। इस दृष्टि से पश्चिम के आधुनिकतावाद और अस्तित्ववाद से प्रभावित होने पर भी अज्ञेय उन विचारधाराओं के अंधसमर्थक नहीं हैं। अज्ञेय और टी. एस. एलियट में परंपरा से संबंधित चिंतन में साम्य होते हुए भी मनो भूमिका में गहरा फर्क है। एलियट परंपरा को लेकर धर्म में गिर जाते हैं, लेकिन अज्ञेय परंपरा की मुक्ति में अपने रचनाकार की मुक्ति खोजते हैं। अज्ञेय के लिए परंपरा और इतिहास एक चीज़ नहीं है। अज्ञेय मानते हैं 'इतिहास से मुक्ति हमारी परंपरा की सबसे बड़ी देन है।' इसलिए अज्ञेय ने एलियट के निबंध का अनुवाद 'रूढ़ि और मौलिकता' नाम से किया। मूल बात यह कि अज्ञेय की परंपरा से संबंधित दृष्टि एलियट से यादा व्यापक है —'नदी के द्वीप' शीर्षक कविता में कहा है कि—

नदी तुम बहती चलो।
भूखंड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, संस्कार देती चलो :

अज्ञेय के लिए निरंतर संस्कारवान होने की क्रिया ही आधुनिकता है। इस तरह आधुनिकता एक संस्कार है, जो संवेदना का अंग बनती है।

अज्ञेय प्रश्नाकुल रचनाकार हैं और यह प्रश्नाकुलता एक प्रखर आलोचनात्मकता की चेतना पैदा करती है। यह प्रश्नाकुलता कहीं तो प्रयोगशीलता की प्रेरणा है, कहीं भाषा के प्रति गहरा लगाव है। इसलिए यह प्रश्नाकुलता आलोचनात्मक सजगता होने के साथ सर्जनात्मक है। परंपरा कवि के लिए पोटली बाँधकर रखी चीज़ नहीं है, उसे कमाना पड़ता हैं—ठोक-बजाकर अर्जित करना होता है। ऐसी ही आधुनिकता भी सिद्ध स्थिति नहीं है—प्रक्रिया है। अज्ञेय अपने संस्कार में आधुनिक हैं, लेकिन एलियटीय अर्थों में आधुनिकतावादी नहीं हैं। अज्ञेय भारतीय आधुनिकता में अपनी जगह अपनी मुक्ति खोजते हैं। उन्हें परखने और मुकाबला करने की शक्ति अर्जित करना है—एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना है। इस तरह हर चिंतन-कोण से अज्ञेय भारतीय काव्यशास्त्र की पुनर्रचना करते चलते हैं। फलतः वे भारतीयता और आधुनिकता में कोई विरोध नहीं देखते। उनकी कविता-यात्रा निरंतरता की शक्ति से अजेय है और स्वाधीन भारतीय जातीय-अस्मिता की वाहक। 'भग्नदूत', 'चिंता', 'इत्यलम', 'हरी घास पर क्षण भर, 'बावरा अहेरी', 'इंद्रधनु रौदे हुए ये', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'आँगन के पार द्वार', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ', 'सागर मुद्रा', 'सुनहले शैवाल', 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ', 'महावृक्ष के नीचे', 'नदी की बाँक पर छाया', 'ऐसा कोई घर आपने देखा है', तथा 'मरुस्थल'। साथ ही 'प्रिजन डेज़ एंड अदर पोयम्स'। इन सभी संग्रहों में वे तत्सम से तद्भव की ओर बढ़े हैं। इन कविताओं का 'सदानीरा' नाम से दो संग्रहों में निर्वास है। 'हरी घास पर क्षण भर' को साहित्य अकादमी सम्मान तथा 'कितनी नावों में कितनी बार' पर भारतीय ज्ञानपीठ सम्मान। देश-विदेश में अज्ञेय को न जाने कितने सम्मान मिले हैं।

इन कविताओं में मनुष्य के साथ प्राकृतिक परिवेश बहुत है। कुमाऊँ की प्रकृति पर कवि मन रीझा रहा है। झील, नाले, झरने और स्रोतों पर, भीमताल पर इतने रीझे रहे कि वहाँ बस जाने का मन बनाते रहे। कुमाऊँ में जगह ली भी और वहाँ लिखा भी काफ़ी। 'असाध्य वीणा' जैसी लंबी अमर कविता उन्होंने अल्मोड़ा

के झील वनों में लिखी। 'शेखर' के कुछ अंश यहीं लिखे गए थे और 'नदी के द्वीप' उपन्यास का खासा भाग वहाँ लिखा गया। 'असाध्य वीणा' में प्रियंवद जो ध्वनियाँ याद करता है, वे सभी कुमाऊँ से जुड़ी ध्वनियाँ हैं। 'नंदा-देवी' शीर्षक में 15-16 कविताओं का एक समूह वहीं लिखा गया। प्रकृति का विनाश, नंदा देवी के वनों पर ठेकेदारों की कुल्हाड़ी। उन वनों का बेरहमी से विनाश हुआ। अज्ञेय ने हारिल सागर, नदी, मछली, झरने, हिरण सभी प्रतीक प्रकृति से लिए हैं। सागर, मछली, हारिल उनके काव्य के प्रिय प्रतीक हैं और 'ये उपमान मैले हो गए हैं' को लेकर चलनेवाली चिंता में बिंबों का नयापन। अज्ञेय के परवर्ती काव्य में मिथक प्रतीक बढ़ते गए हैं। काव्य-भाषा की तद्भवता में जीवन का विस्तार समाता गया है। 'नाच' कविता में जीवन भर नाचने की व्यंजकता है। 'यक्रांत शिला' की कविताएँ—'ओ अरी करुणा प्रभामय' की कविताओं पर जापानी जेनदर्शन का खमीर है। पेरीक्वीन ईसाई साधक की समाधि का भाव-ध्यान है। इधर के नगरीकरण औद्योगिकीकरण पर चिंताएँ हैं। इस तरह अज्ञेय एक बेचैन आधुनिक कवि हैं। अंत में उनका परिचय 'छंद' कविता बना है—

मैं सभी ओर से खुला हूँ
वन-सा, वन-सा अपने में बंद हूँ
शब्द में मेरी समाई नहीं होगी
मैं सन्नाटे का छंद हूँ।

हमारी पूरी काव्य-परंपरा की कालिदासीय लय अज्ञेय के कवि-कर्म में गूँज-अनुगूँज के साथ अपनी मौजूदगी का एहसास कराती रही है। अज्ञेय के सखा विद्यानिवास मिश्र ने ठीक कहा है कि हिंदी की आधुनिक कविता की असाध्य वीणा अज्ञेय के हाथों ही बजी है, वे ही नए रचना कर्म के प्रियंवद हैं। इस तरह अज्ञेय, जिन्होंने नई सर्जना को पुन: संभव बनाया। हमारे मतवादी आलोचकों ने अज्ञेय को खारिज करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। लेकिन वे उनका विजय रथ रोक नहीं सके। मुझे निर्मल वर्मा का यह कथन याद आता है कि अपने जीवन में चुप रहनेवाले अज्ञेय आज हर जगह से बोलते सुनाई देते हैं।

अज्ञेय की कविताओं से आत्मीय संबंध दिल्ली आने पर बना। जहाँ से मैं आया था वहाँ गीतों की बहार थी और कवि सम्मेलनों में कवि कंठ का बोलबाला

था। और मैं इतना किशोर युवा था कि कविता पढ़ने-समझने की तमीज़ भी नहीं थी। मन पर मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, हरिवंशराय बच्चन और माखनलाल चतुर्वेदी की कविताओं का नशा था। छायावादी कवियों की कविताएँ समझ से बाहर थीं। इसीलिए बहुत धीरे-धीरे अज्ञेय तक पहुँचा। उस समय भी दिल्ली विश्वविद्यालय में ज़्यादातर ऐसे लोग खाट बिछाए हुए थे कि उन्हें अज्ञेय व्यक्तिवादी-कलावादी-रूपवादी दिखाई देते थे और वे अज्ञेय के नाम पर अपनी नाक-भौं सिकोड़ते थे। लेकिन मेरे गुरु पं. कृष्णशंकर शुक्ल के मन में अज्ञेय के लिए बड़ा आदर और आकर्षण था। उनके कारण ही अज्ञेय की कविता की ओर मैं प्रवृत हुआ और रम गया। भवानी प्रसाद मिश्र और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के निकट परिचय में आने पर अज्ञेय के रचना-कर्म का चस्का लगा। 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' पढ़ने पर अज्ञेय के गद्य का गहरा प्रभाव पड़ा और 'त्रिशंकु' पर तो मुग्ध ही रहा। अलीकी, प्रयोगशील, क्रांतिकारी, बौद्धिक रचनाकार अज्ञेय के कवि को प्रश्नाकुल पाकर आधुनिक रचना-स्थिति से निकटता का अनुभव करने लगा। उनकी काव्य-यात्रा से ही जाना कि मौलिकता का अर्थ है—'भिन्नता'। और ऐसी विविधता, भिन्नता और चौकन्नापन अन्यत्र नसीब ही नहीं रहा।

'तारसप्तक' (1943) के प्रकाशन ने हिंदी कविता में परंपरा, आधुनिकता, प्रयोग, प्रगति, रचना स्थिति, रागात्मक संबंधों के बदलाव के साथ तमाम अवधारणाओं के प्रति बौद्धिक—संवाद की शुरुआत की। नई कविता के कवि एवं सिद्धांतकार विजयदेव नारायण साही के निबंध 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' ने तो आँखें ही खोल दीं। इसी निबंध से अज्ञेय की कविता से प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त का संबंध स्पष्ट हुआ। उत्तर-छायावाद के कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर, बच्चन, नरेंद्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, नवीन जी की कविता का 'अंतर्जगत' भी साही के निबंध से ही समझ में आया। 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' निबंध से कविता के प्रतिमान और लक्ष्मीकांत वर्मा के 'नई कविता के प्रतिमान' का एक नया लोक ही खुल गया। सार- संक्षेप यह कि सच्चे आधुनिक बौद्धिक कवि अज्ञेय की सर्जनात्मकता से आत्मीयता स्थापित होती गई। लेकिन विचारधारा का छद्म मुखौटा लगाकर अज्ञेय पर जो

अकारण अतार्किक प्रहार हो रहे थे उनसे मन को बहुत पीड़ा हुई। फिर क्या था, अज्ञेय की 'सभ्यता समीक्षा' के नाम पर जो उपद्रव हो रहे थे उन पर ध्यान एकाग्र होता गया। अज्ञेय को भारतीय परंपरा से बाहर निकलकर विदेशी साहित्य का नकलची सिद्ध करने के लिए क्या-क्या कुकर्म हिंदी आलोचना ने नहीं किए। उनका अकेलापन, मौन, रहस्यवाद, अस्तित्ववाद, व्यक्ति स्वातंत्रवाद बेहद चर्चा के केंद्र में रहे। लेकिन एक दिन यह एहसास हिंदी आलोचना की नई पीढ़ी ने किया कि नए साहित्य के नए मूल्यों के लिए अज्ञेय के संघर्ष का एक गौरवपूर्ण इतिहास बनकर तैयार हो गया है। इस इतिहास में अज्ञेय को परंपरा में मूर्तिभंजक मान लिया गया है। यह भी मान लिया गया कि इस नई राहों के अन्वेषी कवि ने हिंदी कविता का पूरा भूगोल-इतिहास-व्याकरण ही बदल डाला है। उनमें उस पार जाने के लिए हर संकट को झेलने का संकल्प है और कोरी समसामयिकता का झागभर नहीं है। उनकी कविता हिंदी कविता को पुनः संभव बनाकर क्लासिक ऊँचाइयों की ओर उन्मुख है। और भारतीय आधुनिकता का एक नया भाष्य उनके कवि-चिंतन और कवि-कर्म में बहुत गहराई के साथ विद्यमान है।

अज्ञेय नवीन संवेदना, सघन काव्यानुभव और अपूर्व भाषिक सर्जनात्मकता के कवि हैं। छायावादी भाषा की लीकों को तोड़कर अज्ञेय तद्‍भवता से कविता निचोड़ने में माहिर होते गए। उन्होंने अपने रचना-कर्म से, शब्द की आत्मा के ज्ञान से यह सिद्ध करके दिखा दिया कि बड़ा कवि वाक-सिद्ध होता है और उससे भी बड़ा कवि रस-सिद्ध होता है। अज्ञेय को 'मनहूस' और 'चिंपाजी' कहनेवाले आज केवल जीभों को लपालप करते रह गए हैं।

यह संचयन मेरी रुचि के अलावा मेरे संस्कारों को भी सामने लाता है। मैंने प्रयत्न यही किया है कि अज्ञेय के कवि-कर्म से पाठक समग्रता में साक्षात्कार कर सके।

दीपावली पर्व
17 अक्तूबर, 2009
नई दिल्ली।

कृष्णदत्त पालीवाल
प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नया कविः आत्म स्वीकार

किसी का सत्य था,
मैंने संदर्भ से जोड़ दिया।
कोई मधुकोष काट लाया था,
मैंने निचोड़ लिया।

किसी की उक्ति में गरिमा थी
मैंने उसे थोड़ा-सा सँवार दिया
किसी की संवेदना में आग-का-सा ताप था
मैंने दूर हटते-हटते उसे धिक्कार दिया।

कोई हुनरमंद थाः
मैंने देखा और कहा, 'यों!'
थका भारवाही पापा—
घुड़का या कोंच दिया, 'क्यों!'

किसी की पौध थी,
मैंने सींचीं और बढ़ने पर अपना ली
किसी की लगाई लता थी,
मैंने दो बल्ली गाड़ उसी पर छवा ली।

किसी की कली थी
मैंने अनदेखे में बीन ली
किसी की बात थी
मैंने मुँह से छीन ली।

यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ
काव्य-तत्त्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ?
चाहता हूँ आप मुझे
एक एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें
पर प्रतिमा — अरे, वह तो
जैसी आपको रुचे आप स्वयं गढ़ें।

उड़ चल, हारिल

उड़ चल, हारिल, लिए हाथ में
यही अकेला ओछा तिनका।
ऊषा जाग उठी प्राची में—
कैसी बाट, भरोसा किन का!

शक्ति रहे तेरे हाथों में—
छुट न जाए यह चाह सृजन की,
शक्ति रहे तेरे हाथों में—
रुक न जाए यह गति जीवन की!

ऊपर - ऊपर - ऊपर - ऊपर
बढ़ा चीरता चल दिग्मंडल:
अनथक पंखों की चोटों से

नभ में एक मचा दे हलचल!

तिनका? तेरे हाथों में है।
अमर एक रचना का साधन—
तिनका? तेरे पंजे में है
विधना के प्राणों का स्पंदन!

काँप न, यद्यपि दसों दिशा में
तुझे शून्य नभ घेर रहा है,
रुक न, यद्यपि उपहास जगत् का
तुझको पथ से हेर रहा है;

तू मिट्टी था, किंतु आज
मिट्टी को तूने बाँध लिया है,
तू था सृष्टि, किंतु स्रष्टा का
गुर तूने पहचान लिया है!

मिट्टी निश्चय है यथार्थ, पर
क्या जीवन केवल मिट्टी है?
तू मिट्टी, पर मिट्टी से
उठने की इच्छा किसने दी है?

आज उसी ऊर्ध्वंग ज्वाल का
तू है दुर्निवार हरकारा
दृढ़ ध्वज-दंड बना यह तिनका
सूने पथ का एक सहारा!

मिट्टी से जो छीन लिया है

वह तज देना धर्म नहीं है;
जीवन-साधन की अवहेला
कर्मवार का कर्म नहीं है!

तिनका पथ की धूल, स्वयं तू
है अनंत की पावन धूली—
किंतु आज तूने नभ-पथ में
क्षण में बद्ध अमरता छू ली!

ऊषा जाग उठी प्राची में—
आवाहन यह नूतन दिन का:
उड़ चल, हारिल, लिए हाथ में
एक अकेला पावन तिनका!

मैं वह धनु हूँ

मैं वह धनु हूँ, जिसे साधने
में प्रत्यंचा टूट गई है।
स्खलित हुआ है बाण, यद्यपि ध्वनि
दिग्दिगंत में फूट गई है—
प्रलय-स्वर है वह, या है बस
मेरी लज्जाजनक पराजय,
या कि सफलता! कौन कहेगा
क्या उसमें है विधि का आशय!
क्या मेरे कर्मों का संचय
मुझको चिंता छूट गई है—
मैं बस जानूँ, मैं धनु हूँ, जिस
की प्रत्यंचा टूट गई है!

कितनी शांति! कितनी शांति!

कितनी शांति! कितनी शांति!
समाहित क्यों नहीं होती यहाँ भी मेरे हृदय की क्रांति?
क्यों नहीं अंतर-गुहा का अशृंखल दुर्बाध्य वासी,
अथिर यायावर, अचिर में चिर-प्रवासी
नहीं रुकता, चाह कर—स्वीकार कर—विश्रांति?
(मानकर भी, सभी ईप्सा, सभी कांक्षा, जगत की उपलब्धियाँ
सब हैं लुभानी भ्रांति!)

तुम्हें मैंने आह! संख्यातीत रूपों में किया है याद—
सदा प्राणों में कहीं सुनता रहा हूँ तुम्हारा संवाद—
बिना पूछे, सिद्धि कब? इस इष्ट से होगा कहाँ साक्षात्?
कौन-सी वह प्रात, जिसमें खिल उठेगी क्लिन्न, सूनी, शिशिर-भीगी रात?

चला हूँ मैं; मुझे संबल रहा केवल बोध—पग-पग आ रहा हूँ पास;
रहा आतप-सा यही विश्वास
स्नेह के मृदु घाम से गतिमान रखता निविड़ मेरे साँस और उसाँस।
आह, संख्यातीत रूपों में तुम्हें मैंने किया है याद!

किंतु—सहसा हरहराते ज्वार-सा बढ़ एक हाहाकार
प्राण को झकझोर कर दुर्वार,
लील लेता रहा है मेरे अकिंचन कर्म-श्रम-व्यापार!
झेल लें अनुभूति के संचित कनक का जो इकट्ठा भार—
ऐसे कहाँ हैं अस्तित्व की इस जीर्ण चादर के इकहरी बाट के ये तार!
गूँजती ही रही है दुर्दांत एक पुकार :

कहाँ है वह लक्ष्य श्रय का—विजय जीवन की—तुम्हारा प्रतिश्रुत वह प्यार!
हरहराते ज्वार-सा बढ़ सदा आया एक हाहाकार?

अहं! अंतर्गुहावासी! स्व-रति! क्या मैं चीन्हता कोई न दूजी राह?
जानता क्या नहीं, निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह?
क्षुद्र नलकी में समाता है कहीं बेथाह
मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का तेज-दीप्त प्रवाह!
जानता हूँ। नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान,
विश्व-जन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी इस व्यष्टि का अभिमान!
कांति अणु की है सदा गुरु-पुंज का सम्मान।
बना हूँ कर्ता, इसी से कहूँ — मेरी चाह, मेरा दाह, मेरा खेद और उछाह:
मुझ सरीखी अगिन लीकों से, मुझे यह सर्वदा है ध्यान,
नई, पक्की, सुगम और प्रशस्त बनती है युगों की राह!
तुम! जिसे मैंने किया है याद, जिससे बँधी मेरी प्रीत—
कौन तुम! अज्ञात-वय-कुल-शील मेरे मीत!
कर्म की बाधा नहीं तुम, तुम नहीं प्रवृत्ति से उपराम।
कब तुम्हारे हित थमा संघर्ष मेरा — रुका मेरा काम?

तुम्हें धारे हृदय में, मैं खुले हाथों सदा दूँगा बाह्य का जो देय—
नहीं गिरने तक करूँगा, 'तनिक ठहरूँ क्योंकि मेरा चुक गया पाथेय।'
तुम? हृदय के भेद मेरे, अंतरंग सखा-सहेली हो,
खगों से उड़ रहे जीवन क्षणों के तुम पटु बहेली हो,
नियम भूतों के सनातन, स्फुरण की लीला नवेली हो,
किंतु जो भी हो, निजी तुम प्रश्न मेरे, प्रेय-प्रत्यभिज्ञेय!
मेरा कर्म, मेरी दीप्ति, उद्‌भव-निधन, मेरी मुक्ति, तुम मेरी पहेली हो!

तुम, जिसे मैंने किया है याद, जिससे बँधी मेरी प्रीत!

लुभानी है भ्रांति—
कितनी शांति! कितनी शांति!

हवाएँ चैत की

बह चुकीं बहकी हवाएँ चैत की
कट गईं पूलें हमारे खेत की
कोठरी में लौ बढ़ा कर दीप की
गिन रहा होगा महाजन सेंत की।

टेसू

ग्रीष्म तो न जाने कब आएगा
लू के दुर्मद दुर्दम घोड़े पर वह
अनलोद्भव अवतार-पुरुष
कब आकर धरती को तपाएगा
उस पावक से जिससे वह तप:पूत
तप:कृशा
फिर माँग सके, सह सके वह पावस की मिलन-निशा
जिसमें नव मेघ-दूत
शावक-सा
आकर अदम्य जीवन के
द्रावक संदेसे से उसे हुलसाएगा—
ग्रीष्म तो न जाने कब आएगा

तब तक मैं उसका एक अकिंचन अग्रदूत
अपनी अखंड आस्था के साक्ष्य रूप
मशाल जला दूँ:
न सही क्षयग्रस्त नगर में—
इस वन-खंडी में आग लगा दूँ।

साँप

साँप!
तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया।
एक बात पूछूँ — (उत्तर दोगे?)
तब कैसे सीखा डँसना—
विष कहाँ पाया?

सर्जना के क्षण

एक क्षण-भर और
रहने दो मुझे अभिभूत:
फिर जहाँ मैंने सँजो कर और भी सब रखी हैं
ज्योति:शिखाएँ
वहीं तुम भी चली जाना
शांत तेजोरूप।

एक क्षण-भर और:

लंबे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।
बूँद स्वाती की भले हो
बेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से
वज्र जिससे फोड़ता चट्टान को
भले ही फिर व्यथा के तम में
बरस पर बरस बीतें
एक मुक्ता-रूप को पकते।

अंतःसलिला

रेत का विस्तार
नदी जिसमें खो गई
कृश-धार।
झरा मेरे आँसुओं की भार
—मेरा दुख-धन,
मेरे समीप अगाध पारावार—
उसने सोख सहसा लिया
जैसे लूट ले बटमार।
और फिर आक्षितिज
लहरीला मगर बेटूट
सूखी रेत का विस्तार—
नदी जिसमें खो गई
कृश-धार।

किंतु जब-जब जहाँ भी जिसने कुरेदा
नमी पाई : और खोदा—
हुआ रस-संचार :

रिसता हुआ गड्ढा भर गया।
यों अजाना पांथ
जो भी क्लांत आया, रुका लेकर आस,
स्वल्पायास से ही शांत
अपनी प्यास
इससे कर गया :
खींच लंबी साँस
पार उतर गया।

अरे, अंतःसलिल है रेत :
अनगिनत पैरों तले रौंदी हुई अविराम
फिर भी घाव अपने-आप भरती,
पड़ी सज्जाहीन,
धूसर-गौर,
निरीह और उदार!

बड़े शहर का एक साक्षात्कार

अधर में लटका हुआ
भारी ठोस कंथा।
कसैले भूरे कोहरे में
झिपती-दिपती
प्रकाश की अनगिन थिगलियाँ।
कि कोहरे को थर्राती हुई
एक भर्राती हुई आवाज़ बोली :
उस कंथे की एक थिगली
मेरा घर है। जानते हो न?

उसमें मेरी घरवाली है।
अगर मैं इतनी पिए हुए न होता
तो पहचान देता।
मानते हो न?

मैंने कहना चाहा : किसे?
घर को, या घरवाली को?
पर कह न सका; चुप-चाप ही
उसके भाग्य को सराहा
जो भुला देता है
और याद रखता है भूल गए होने को :
जो, यों, सस्ते में दोहरा सुख लेता है।

लेकिन वह अपने-आप ही
रह न सका, बोला :
पर पिए न होता
तो घर तो पहचान देता
मगर अपने-आप को नहीं पहचान पाता।
मैं हूँ, मैं कौन हूँ, मैं मैं हूँ,
यही कैसे जान पाता?
फिर क्या होता?
तुम्हीं कहो, फिर क्या होता?
उसे रट लग जाएगी—
वह तो झोंक में है, मेरी शामत आएगी!
यह सोच कर मैंने कहा
नहीं दोस्त! तुम सब पहचानते हो,
तब भी पहचानते;
भला अपना घर न जानते?

नशे की खुशी में उसने दोहराया,
हाँ, सब पहचानता हूँ!
घर को, घरवाली को,
हर थिगली को—खूब जानता हूँ!

फिर एकाएक उसे क्रोध हो आया :
नहीं, तुम कुछ नहीं जानते!
उस कंथे में सत्ताईस सौ थिगलियाँ हैं
सत्ताईस सौ दरबे हैं—
हर थिगली में एक घर है, एक घरवाली है—
सत्ताईस सौ कुनबे हैं—
कोई कैसे पहचान देगा?
तुम झूठे हो, तुम कभी नहीं पहचानते?
उन सत्ताईस सौ थिगलियों में कौन-सी
मेरा घर है
कोई कैसे जान सकता?
मैं भी कैसे पहचान सकता?
होश में भी पहचान सकता तो पहले पीता क्यों?
बताओ, मैं पीता क्यों?

कोहरे को थर्राती हुई
भर्राती हुई आवाज़ :
अधर में लटका हुआ
एक सवाल
और एक कंथा
दोनों झिरझिरे, दिपते-झिपते।
क्या सवालों की थिगलियों के पीछे भी
जलती हुई बत्तियाँ हैं
या सिर्फ़ अधर से लटकन?

जो पुल बनाएँगे

जो पुल बनाएँगे
वे अनिवार्यतः
पीछे रह जाएँगे।
सेनाएँ हो जाएँगी पार
मारे जाएँगे रावण
जयी होंगे राम,
जो निर्माता रहे
इतिहास में
बंदर कहलाएँगे।

जन्म-दिवस

मैं मरूँगा सुखी
क्योंकि तुमने जो जीवन दिया था—
(पिता कहलाते हो तो जीवन के तत्त्व पाँच
चाहे जैसे पुंज-बद्ध हुए हों, श्रेय तो तुम्हीं को होगा—)
उससे मैं निर्विकल्प खेला हूँ—
खुले हाथों उसे मैंने वारा है—
धज्जियाँ उड़ाई हैं।

तुम बड़े दाता हो :
तुम्हारी देन मैं नहीं सूम-सी सँजोयी;
मैंने नहीं जोड़ा कुछ थोड़ा भी।
पाँच ही थे तत्त्व मेरी गूदड़ी में—मैंने नहीं माना उन्हें लाल,
चाहे यह जीवन का वरदान तुम नहीं देते बार-बार—

(अरे, मानव की जोनि! परम संजोग है!)
किंतु जब आए काल
लोलुप विवर-सा प्रलंब-कर, खुली पाए प्राणों की मंजूषा—
जावें पाँचों प्राण शून्य में बिखर :
मैं भी दाता हूँ। विसर्ग महाप्राण है।
मैं मरूँगा सुखी।

किंतु नहीं धो रहा मैं पाटियाँ आभार की।
उनके समक्ष
दिया जिन्होंने बहुत कुछ, किंतु जो अपने को दाता नहीं मानते—
नहीं जानते :
अमुखर नारियाँ, धूल-भरे शिशु, खग,
ओस-नमे फूल, गंध मिट्टी पर पहले असाढ़ के अयाने वारि-बिंदु की,
कोटरों से झाँकती गिलहरी,
स्तब्ध, लय-बद्ध भौंरा टँका-सा अधर में,
चाँदनी से बसा हुआ कुहरा,
पीली धूप शारदीय प्रात की,
बाजरे के खेतों को फलाँगती डार हिरनों की बरसात में—
नत हूँ मैं सबके समक्ष, बार-बार मैं विनीत स्वर
ऋण-स्वीकारी हूँ—विनत हूँ।

मैं मरूँगा सुखी
मैंने जीवन की धज्जियाँ उड़ाई हैं!

किरण मर जाएगी

किरण मर जाएगी!

लाल होके झलकेगा भोर का आलोक—

उर का रहस्य ओंठ सकेंगे न रोक।
प्यार की नीहार-बूँद मूक झर जाएगी!
इसी बीच किरण मर जाएगी!

ओप देगा व्योम श्लथ कुहासे का जाल—
कड़ी-कड़ी छिन्न होगी तारकों की माल।
मेरे माया-लोक की विभूति बिखर जाएगी!
इसी बीच किरण मर जाएगी!

शरणार्थी—6: समानांतर साँप

(1)

हम एक लंबा साँप हैं
जो बढ़ रहा है ऐंठता-खुलता, सरकता, रेंगता।
मैं—न सिर हूँ (आँख तो हूँ ही नहीं)
दुम भी नहीं हूँ
औ' न मैं हूँ दाँत जहरीले।
मैं—कहीं उस साँप की गुंजलक में उलझा हुआ-सा
एक बेकस जीव हूँ।

बगल से गुज़रे चले तुम जा रहे जो
सिर झुकाए, पीठ पर गट्ठर सँभाले
गोद में बच्ची लिए
उस हाथ से देते सहारा किसी बूढ़े या कि रोगी को—
पलक पर लादे हुए बोझ जुगों की हार का—
तुम्हें भी कैसे कहूँ तुम सृष्टि के सिरताज हो?
तुम भी जीव हो बेबस।

एक अदना अंग मेरे पास से होकर सरकती
एक जीती कुलबुलाती लीक का
जो असल में समानांतर दूसरा
एक लंबा साँप है।
झर चुकीं कितनी न जाने केंचुलें—
झाड़ियाँ कितनी कँटीली पार करके बार-बार
सूखकर फिर-फिर
मिलीं हमको ज़िंदगी की नई किश्तें
किसी टुटपुँजिए
सूम जीवन-देवता के हाथ।
तुम्हारे भी साथ, निश्चय ही
हुआ होगा यही। तुम भी जी रहे हो
किसी कंजूस मरघिल्ले
बँधे रातिब पर!

(2)
दो साँप
चले जाते हैं
बँध गई है लीक दोनों की।

यह हमारा साँप—
हम जा रहे हैं उस ओर, जिसमें सुना है
सब लोग अपने हैं;
वह तुम्हारा साँप—
तुम भी जा रहे हो, सोचते निश्चय, कि वह तो देश है जिसमें
सत्य होते सभी सपने हैं।

यह हमारा साँप—

इस पर हम निछावर हैं।
जा रहे हैं छोड़कर अपना सभी कुछ
छोड़कर मिट्टी तलक अपने पसीने-खून से सींची
किंतु फिर भी आस बाँधे
वहाँ पर हमको निराई भी नहीं करनी पड़ेगी,

फल रहा होगा चमन अपना
अमन में आशियाँ लेंगे।
वह तुम्हारा साँप—
उसको तुम समर्पित हो।
लुट गया सब कुछ तुम्हारा
छिन गई वह भूमि जिसको
अगम जंगल से तुम्हारे पूर्वजों ने खून दे देकर उबारा था
किंतु तुम तो मानते हो, गया जो कुछ जाए—
वहाँ पर तो हो गया अपना सवाया पावना!

(3)
यह हमारा साँप
जो फुँकारता है, और वह फुँकार
मेरी नहीं होती
किंतु फिर भी हम न जाने क्यों
मान लेते हैं कि जो फुँकारता है, वह
घिनौना हो,
हमारा साँप है।

वह तुम्हारा साँप—
तुम्हें दीक्षा मिली है सब घृण्य हैं फूत्कार हिंसा के
किंतु जब वह उगलता है भाफ़ जहरीली,

तुम्हें रोमांच होता है—
तुम्हारा साँप जो ठहरा!

(4)
उस अमावस रात में—घुप कंदराओं में
जहाँ फ़ौलादी अँधेरा
तना रहता है खड़ी दीवार-सा
आड़ करके
नीति की, आचार, निष्ठा की
तर्जनी की वर्जनों से
और सत्ता के असुर के नेवते आई
बल-लिप्सा
नंगी नाचती है:
उस समय
दीवार के इस पार जब छाया हुआ होगा
सुनसान सन्नाटा—
उस समय सहसा पलटकर
साँप डस लेंगे
निगल जाएँगे—
तुम्हें वह, तुम जिसे अपना साँप कहते हो
हमें यह, जो हमारा ही साँप है!

(5)
रुको, देखूँ मैं तुम्हारी आँख,
पहचानूँ कि उनमें जो चमकती है—
या चमकनी चाहिए
क्योंकि शायद इस समय वह मुसीबत की राख से ढककर
बहुत मंदी सुलगती हो—

तड़पती इनसानियत की लौ—
रुको, पहचानूँ कि क्या वह भिन्न है बिलकुल
उस हठीली धुकधुकी से
जनम से ही जिसे मैं दिल से लगाए हूँ?

रुको, तुम भी करो ऊँचा सीस, मेरी ओर मुँह फेरो—
करो आँखें चार
झिझक को छोड़ मेरी आँख में देखो,
नहीं जलती क्या वहाँ भी जोत—
काँपती हो, टिमटिमाती हो, शरारे छोड़ती हो,
धुएँ में घुट रही हो—
जीत वैसी ही जिसे तुमने
सदा अपने हृदय में जलती हुई पाया—
किसी महती शक्ति ने अपनी धधकती महज्ज्वाला से छुलाकर
जिसे देहों की मशालों में
जलाया!

(6)
रुकूँ मैं भी!
क्यों तुम्हें तुम कहूँ? अपने को अलग मानूँ?
साँप दो हैं
हम नहीं।
और फिर
मनुजता के पतन की इसी अवस्था में भी
साँप दोनों हैं
पतित दोनों
तभी दोनों एक!

(7)

केंचुलें हैं, केंचुलें हैं, झाड़ दो!
छल-मकर की तनी झिल्ली फाड़ दो!
साँप के विष-दाँत तोड़ उखाड़ दो!

आजकल का चलन है—सब जंतुओं की खाल पहने हैं—
गले गीदड़-लोमड़ी की,
बाघ की है खाल काँधों पर
दिल ढँका है भेड़ की गुलगुली चमड़ी से
हाथ में थैला मगर की खाल का
और पैरों में—
जगमगाती साँप की केंचुल
बनी है श्री चरण का सैंडल

किंतु भीतर कहीं
भेड़-बकरी, बाघ-गीदड़, साँप के बहुरूप के अंदर
कहीं पर रौंदा हुआ अब भी तड़पता है
सनातन मानव—
खरा इनसान—
क्षण भर रुको तो उसको जगा लें!
नहीं है यह धर्म, ये तो पैंतरे हैं उन दरिंदों के
रूढ़ि के नाखून पर मरजाद की मखमल चढ़ाकर
जो विचारों पर झपट्टा मारते हैं—
बड़े स्वार्थी की कुटिल चालें!
साथ आओ—
गिलगिले ये साँप बैरी हैं हमारे
इन्हें आज पछाड़ दो
यह मकर की तनी झिल्ली फाड़ दो
केंचुलें हैं, केंचुलें हैं, झाड़ दो!

‘अकेली न जैयो राधे जमुना के तीर’

‘उस पार चलो ना! कितना अच्छा है नरसल का झुरमुट!’
अनमना भी सुन सका मैं
गूँजते से तप्त अंत:स्वर तुम्हारे तरल कूजन में।
‘अरे, उस धूमिल विजन में?’
स्वर मेरा था चिकना ही, ‘अब घना हो चला झुटपुट।
नदी पर ही रहें, कैसी चाँदनी-सी है खिली!
उस पार की रेती उदास है।’

‘केवल बातें! हम आ जाते अभी लौटकर छिन में—’
मान कुछ, मनुहार कुछ, कुछ व्यंग्य वाणी में।
दामिनी की कोर-सी चमकी अंगुलियाँ शांत पानी में।
‘नदी किनारे रेती पर आता है कोई दिन में?’
‘कवि बने हो! युक्तियाँ हैं तभी थोथी—निरा शब्दों का विलास है।’

काली तब पड़ गई साँझ की रेख।
साँस लंबी स्निग्ध होती है—
मौन ही है गोद जिसमें अनकही कुल व्यथा सोती है।

मैं रह गया क्षितिज को अपलक देख। और अंत:स्वर रहा मन में—
‘क्या ज़रूरी है दिखाना तुम्हें वह जो दर्द मेरे पास है?’
जो कली खिलेगी जहाँ, खिली,
जो फूल जहाँ है,
जो भी सुख
जिस भी डाली पर

हुआ पल्लवित, पुलकित,
मैं उसे वहीं पर

अक्षत, अनाघ्रात, अस्पृष्ट, अनाविल,
हे महाबुद्ध!
अर्पित करती हूँ तुझे।

वहीं-वहीं प्रत्येक भरे प्याला जीवन का,
वहीं-वहीं नैवेद्य चढ़ा
अपने सुंदर आनंद-निमिष का,
तेरा हो,
हे विगतागत के, वर्तमान के, पद्मकोश!
हे महाबुद्ध!

तोक्यो, 25 सितंबर, 1957

पहेली

गुरु ने छीन लिया हाथों से जाल,
शिष्य से बोले:
"कहाँ चला ले जाल अभी?
पहले मछलियाँ पकड़ तो ला?"
तकता रह गया बिचारा
भौंचक।
बीत गए युग। चले गए गुरु।
बूढ़ा, धवल-केश, कुंचित-मुख
चेला
सोच रहा था अभी प्रश्न:

'क्यों चला जाल ले?
पहले, रे, मछलियाँ पकड़ तो ला?'
सहसा भेद गई तीखी आलोक-किरण।
'अरे, कब से बेचारी मछली
घिर अगाध से
सागर खोज रही है!'

प्नोम् पेन्ह् (कंबुजिया), 2 नवंबर 1957

औद्योगिक बस्ती

पहाड़ियों से घिरी हुई इस छोटी-सी घाटी में
ये मुँहझौंसी चिमनियाँ बराबर
धुआँ उगलती जाती हैं।

भीतर जलते लाल धातु के साथ
कमकरों की दुःसाध्य विषमताएँ भी
तप्त उबलती जाती हैं।

बँधी लीक पर रेलें लादे माल
चिहुँकती और रँभाती अफराए डाँगर-सी
ठिलती चलती जाती हैं।

उद्यम की कड़ी-कड़ी में बँधते जाते मुक्तिकाम
मानव की आशाएँ ही पल-पल
उसको छलती जाती हैं।

ओसाका-हिरोशिमा (रेल में), 17 दिसंबर, 1957

सांध्य तारा

साँझ। बुझता क्षितिज।
मन की टूट-टूट पछाड़ खाती लहर।
काली उमड़ती परछाइयाँ।

तब एक
तारा भर गया आकाश की गहराइयाँ।
जापान, 21 दिसंबर 1957

मानव अकेला

भीड़ों में
जब-जब जिस-जिससे आँखें मिलती हैं
वह सहसा दिख जाता है
मानव
अँगारे-सा-भगवान्-सा
अकेला।

और हमारे सारे लोकाचार
राख की युगों-युगों की परतें हैं।
जनवरी, 1958

मैंने देखा, एक बूँद

मैंने देखा
एक बूँद सहसा

उछली सागर के झाग से:
रँग गई क्षण-भर
ढलते सूरज की आग से।

मुझको दीख गया :
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से!

नई दिल्ली, 5 मार्च, 1958

वसंत

यह क्या पलास की लाल लहकती
आग रही कारण, जो
वनखंडी की हवा हो चली गर्म आज?

इलाहाबाद, मई, 1958

न दो प्यार

न दो प्यार
खोलो न द्वार
तुमकोई इस अंधी दिवार में :
पा लूँगा दरार
मैं कोई। हो न सकूँगा पार—
न हो : मैं बीज

उसी में डालूँगा : वह फूटेगा : डार-डार
से उसकी झूमेगा फल-भार।
नहीं तो
और कौन है द्वार
—या प्यार?
अल्मोड़ा, 5 जून, 1958

जीवन-छाया

पुल पर झुका खड़ा मैं देख रहा हूँ
अपनी परछाहीं
सोते के निर्मल जल पर—
तल पर, भीतर,
नीचे पथरीले-रेतीले थल पर :
अरे, उसे ये पल-पल
भेद-भेद जाती हैं
कितनी उज्ज्वल
रंगारंग मछलियाँ।
इलाहाबाद, 19 दिसंबर, 1958

अंधकार में दीप

अंधकार था :
सब कुछ जाना
पहचाना था
छुआ कभी न गया हो, फिर भी

सब-कुछ की संयति थी,
संहति थी,
स्वीकृति थी।

दिया जलाया:
अर्थहीन आकारों की यह
अर्थहीनतर भीड़—
निरर्थकता का संकुल—
निर्जल पारावार न-कारों का
यह उमड़ा आया।
कहाँ गया वह
जिसने सब-कुछ को
ऋत के ढाँचे में था बैठाया?
मोतीबाग, नई दिल्ली, 21 फरवरी 1959

टेर रहा सागर

जब-जब सागर में
मछली तड़पी—
तब-तब हमने उसकी गहराई को जाना।
जब-जब उल्का
गिरा टूटकर—गिरा कहाँ?—
हमने सूने को अंतहीन पहचाना।
जो है, वह है,
रहस्य अज्ञेय यही
'है' ही है अपने-आप :
जो 'होता' है, उसका होना ही

जिसे जानना हम कहते
उसकी मर्यादा, माप।

जो है, वह अंतहीन
घेरे है उसको जिसमें
मैं बँधा नहीं हूँ,
झुकूँ, डरूँ,
दूर्वा की पत्ती-सा
नतमस्तक करूँ प्रतीक्षा
झंझा सिर पर से निकल जाए!
मैं अनवरुद्ध, अप्रतिहत, शुचस्नात हूँ;
तेरे आवाहन से पहले ही
मैं अपने को लुटा चुका हूँ:
अपना नहीं रहा मैं
और नहीं रहने की यह बोधभूमि
तेरी सत्ता से, सार्वभौम! है परे,
सर्वदा परे रहेगी।
'एक मैं नहीं हूँ'—
अस्ति दूसरी इससे बड़ी नहीं है कोई।

इस मर्यादातीत
अधर के अंतरीप पर खड़ा हुआ मैं
आवाहन करता हूँ :
आओ, भाई!
राजा जिसके होगे, होगे :
मैं तो नित्य उसी का हूँ जिसको
स्वेच्छा से दिया जा चुका!

7 मार्च, 1963

संपराय

हाँ, भाई,
वह राह
मुझे मिली थी;
कुहरे में जैसी दी मुझे दिखाई
मैंने नापी: धीर, अधीर, सहज, डगमग, द्रुत, धीरे—
आज जहाँ हूँ, वही वहाँ तक लाई।

यहाँ चुक गई डगर :
उलहना नहीं, मानता हूँ पर
आज वहीं हूँ जहाँ कभी था—
एक कुहासे की देहरी पर :
दीख रहा है
पार
रूप—रूपायमान—रूपायित—
पहचाना कुछ : जिधर फिर बढ़ूँ—
धीर, अधीर, सहज, डगमग, द्रुत, धीरे,
हठ धर,
मन में भर
उछाह!

कौन कभी फिर लौट वहाँ आया, जिस पथ से
एक बार वह पार गया है?
नहीं, वही वहीं है कहीं और :
यह ठौर
नया है उतना ही जितनी यह राह,
कुहासा, देश-दिशा, यह समय-बिंदु;

यह मैं भी :
सभी नया है—
नाता ही एक नहीं बदला :
वह एक खोजता राही
एक कुहासे की देहरी पर
लीक धरे पहचाने कुछ-कुछ की
बढ़ता हठ घर
अनजाने कुछ की ओर
भरे मन में उत्साह अतर्कित, निराधार!
रूप,
रूपायमान,
रूपायित।
यों गृहीत,
पहचाना।
फिर इसलिए अनृत
एकांत झूठ!

वह कैसे होती यात्रा
जो पहुँचाकर चुक जाती?
झूठा होगा वह तीर्थ
सरोवर, नदी, महासागर का जो न किनारा-भर होता।
जहाँ से अपने ही संकल्प
न बन जाते ललकार
नए अनजाने पानी में घुसने की।

ये सम्मुख फूल बहे जाते हैं :
पर क्या जाने वे किसके हैं?
क्या जाने वह डूबा, तैरा,

या तट पर ही फूल डालकर लौट गया?
या—क्या जाने?—ये फूल स्वयं उसकी भस्मी के ही
प्रतीक हैं?

यह भी हो सकता है
कोई इस देहरी पर ही बैठ रहे :
जो आएँ उन्हें असीसे,
जाएँ तो, उन्हें बता दे वे पहचाने गलियारे
जो पार स्वयं वह कर आया।

हो सकता है : पर मेरे द्वारा नहीं—
अब नहीं।
मैं जिस देहरी पर हूँ
तीर्थ नहीं,
वह संपराय है।
हठ में कमी नहीं है,
मेरा संकल्प भी नहीं डगमग,
किंतु (उलहना नहीं) मानता हूँ मैं—
मुझे पूछना है अब—और खोजता हूँ उसको जिससे
यह पूछ सकूँ—
'वह दीख रहा है पार मुझे,
पर बोलो,
उस तक जाने का क्या है उपाय—
है क्या उपाय?

रूप :
रूप,
रूपायमान,

रूपायित।
स्पृष्ट! अनृत।
प्रव्रजित!

और कहाँ तक यही अनुक्रम!
कितना और कुहासा
कितना देहरियों पर कितनी ठोकर?
कितना हठ?
कितने-कितने मन—कितना उछाह?'

है राह!
कुहासे तक ही नहीं, पार देहरी के। है।
मैं हूँ तो वह भी है,
तीर्थाटन को निकला हूँ
काँधे बाँधे हूँ लकड़ियाँ चिता की :
गाता जाता हूँ—
'है, पथ है:
वह जो रुक जाता है कूल-कूल पर बार-बार—
यों नहीं कि वह चुक जाता है :
पर तीर्थ यही तो होते हैं—
अनजाने—यद्यपि वांछित—संपराय :
हम होते ही रहते हैं वहाँ पार!'
नई दिल्ली, नवंबर 1964

कलगी बाजरे की

हरी बिछली घास।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की।

अगर मैं तुमको ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुँई,
टटकी कली चंपे की, वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही : ये उपमान मैले हो गए हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच।

कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।
मगर क्या तुम नहीं पहचान पाओगी :
तुम्हारे रूप के—तुम हो, निकट हो, इसी जादू के—
निजी किस सहज, गहरे बोध से, किस प्यार से मैं कह रहा
हूँ—
अगर मैं यह कहूँ—

बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की?
आज हम शहरातियों को
पालतू मालंच पर सँवरी जुही के फूल से
सृष्टि के विस्तार का—ऐश्वर्य का—औदार्य का—
कहीं सच्चा, कहीं प्यारा एक प्रतीक
बिछली घास है,
या शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर दोलती कलगी
अकेली
बाजरे की।

और सचमुच, इन्हें जब-जब देखता हूँ
यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है—

और मैं एकांत होता हूँ समर्पित।

शब्द जादू हैं—
मगर क्या यह समर्पण कुछ नहीं है?
कोलकाता, 10 नवंबर, 1949

नदी के द्वीप

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़ कर स्रोतस्विनी बह जाए।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अंतरीप, अभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।

माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।

किंतु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के
किंतु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।

पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जाएँगे।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनाएँगे।

द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में।
वह बृहद् भूखंड से हमको मिलाती है।
और वह भूखंड अपना पितर है।

नदी, तुम बहती चलो।
भूखंड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, संस्कार देती चलो :
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—अतिचार से—

तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे,
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाए
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नए व्यक्तित्व का आकार।
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना।

इलाहाबाद, 11 दिसंबर, 1949

असाध्य वीणा

आ गए प्रियंवद! केशकंबली! गुफा-गेह!
राजा ने आसन दिया। कहा :
'कृतकृत्य हुआ मैं तात! पधारे आप।
भरोसा है अब मुझको

साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी!'

लघु संकेत समझ राजा का
गण दौड़े। लाए असाध्य वीणा,
साधक के आगे रख उसको, हट गए।
सभी की उत्सुक आँखें
एक बार वीणा को लख, टिक गईं
प्रियंवद के चेहरे पर।

'यह वीणा उत्तराखंड के गिरि-प्रांतर से
—घने वनों में जहाँ तपस्या करते हैं व्रतचारी—
बहुत समय पहले आई थी।
पूरा तो इतिहास न जान सके हम :
किंतु सुना है
वज्रकीर्ति ने मंत्रपूत जिस
अति प्राचीन किरीटी-तरु से इसे गढ़ा था—
उसके कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने,
कंधों पर बादल सोते थे,
उसकी करि-शुंडों-सी डालें
हिम-वर्षा से पूरे वन-यूथों का कर लेती थीं परित्राण,
कोटर में भालू बसते थे,
केहरि उसके वल्कल से कंधे खुजलाने आते थे।
और—सुना है—जड़ उसकी जा पहुँची थी पाताल-लोक,
उसकी ग्रंथ-प्रवण शीतलता से फण टिका नाग वासुकि
सोता था।
उसी किरीटी-तरु से वज्रकीर्ति ने
सारा जीवन इसे गढ़ा :
हठ-साधना यही थी उस साधक की—

वीणा पूरी हुई, साथ साधना, साथ ही जीवन-लीला।'

राजा रुके साँस लंबी लेकर फिर बोले :
'मेरे हार गए सब जाने-माने कलावंत,
सब की विद्या हो गई अकारथ, दर्प चूर,
कोई ज्ञानी गुणी आज तक इसे न साध सका।
अब यह असाध्य वीणा ही ख्यात हो गई।
पर मेरा अब भी है विश्वास
कृच्छ्र-तप वज्रकीर्ति का व्यर्थ नहीं था।
वीणा बोलेगी अवश्य, पर तभी
इसे जब सच्चा-स्वरसिद्ध गोद में लेगा।
तात! प्रियंवद! लो, यह सम्मुख रही तुम्हारे
वज्रकीर्ति की वीणा,
यह मैं, यह रानी, भरी सभा यह :
सब उदग्र, पर्युत्सुक,
जन-मात्र प्रतीक्षमाण!'

केशकंबली गुफा-गेह ने खोला कंबल।
धरती पर चुप-चाप बिछाया।
वीणा उस पर रख, पलक मूँद कर, प्राण खींच,
कर के प्रणाम,
अस्पर्श छुअन से छुए तार।
धीरे बोला : 'राजन्! पर मैं तो
कलावंत हूँ नहीं, शिष्य, साधक हूँ—
जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी।
वज्रकीर्ति!
प्राचीन किरीटी-तरु!
अभिमंत्रित वीणा!

ध्यान-मात्र इनका तो गद्गद् विह्वल कर देनेवाला है!'

चुप हो गया प्रियंवद।
सभा भी मौन हो रही।
वाद्य उठा साधक ने गोद रख लिया।
धीरे-धीरे झुक उस पर, तारों पर मस्तक टेक दिया।
सभा चकित थी—अरे, प्रियंवद क्या सोता है?
केशकंबली अथवा होकर पराभूत
झुक गया वाद्य पर?
वीणा सचमुच क्या है असाध्य?
पर उस स्पंदित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा—
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।
सघन निविड में वह अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी-तरु को।
कौन प्रियंवद है कि दंभ कर
इस अभिमंत्रित कारुवाद्य के सम्मुख आवे?
कौन बजावे
यह वीणा जो स्वयं एक जीवन भर की साधना रही?
भूल गया था केशकंबली राजा-सभा को:
कंबल पर अभिमंत्रित एक अकेलेपन में डूब गया था
जिसमें साक्षी के आगे था
जीवित वही किरीटी-तरु
जिसकी जड़ वासुकि के फण पर थी आधारित,
जिसके कंधों पर बादल सोते थे
और कान में जिसके हिमगिरि कहते थे अपने रहस्य।
संबोधित कर उस तरु को, करता था
नीरव एकालाप प्रियंवद।

'ओ विशाल तरु!
शत-सहस्र पल्लवन-पतझरों ने जिसका नित रूप सँवारा,
कितनी बरसातों कितने खद्योतों ने आरती उतारी,
दिन भौंरे कर गए गुंजरित,
रातों में झिल्ली ने
अनकथ मंगल-गान सुनाए,
साँझ-सवेरे अनगिन
अनचीन्हे खग-कुल की मोद-भरी क्रीड़ा-काकलि
डाली-डाली को कँपा गई—
ओ दीर्घकाय!
ओ पूरे झारखंड के अग्रज,
तात, सखा, गुरु, आश्रय,
त्राता महच्छाय,
ओ व्याकुल मुखरित वन-ध्वनियों के
वृंदगान के मूर्त्त रूप,
मैं तुझे सुनूँ,
देखूँ, ध्याऊँ
अनिमेष, स्तब्ध, संयत, संयुत, निर्वाक् :
कहाँ साहस पाऊँ
छू सकूँ तुझे!
तेरी काया को छेद, बाँध कर रची गई वीणा को
किस स्पर्धा से
हाथ करें आघात
छीनने को तारों से
एक चोट में वह संचित संगीत जिसे रचने में
स्वयं न जाने कितनों के स्पंदित प्राण रच गए!

'नहीं, नहीं! वीणा यह मेरी गोद रखी है, रहे,

किंतु मैं ही तो
तेरी गोदी बैठा मोद-भरा बालक हूँ,
ओ तरु-तात! सँभाल मुझे,
मेरी हर किलक
पुलक में डूब जाए :
मैं सुनूँ,
गुनूँ, विस्मय से भर आँकूँ
तेरे अनुभव का एक-एक अंतःस्वर
तेरे दोलन की लोरी पर झूमूँ मैं तन्मय—
गा तू :
तेरी लय पर मेरी साँसें
भरें, पुरें, रीतें, विश्रांति पाएँ।
'गा तू!
यह वीणा रखी है: तेरा अंग-अपंग!
किंतु अंगी, तू अक्षत, आत्म-भरित,
रस-विद्
तू गा :
मेरे अँधियारे अंतस् में आलोक जगा
स्मृति का
श्रुति का—
तू गा, तू गा, तू गा, तू गा!

'हाँ, मुझे स्मरण है :
बदली—कौंध—पत्तियों पर वर्षा-बूँदों की पट-पट।
घनी रात में महुए का चुप-चाप टपकना।
चौंके खग-शावक की चिहुँक।
शिलाओं को दुलराते वन-झरने के
द्रुत लहरीले जल का कल-निदान।

कुहरे में छनकर आती
पर्वती गाँव के उत्सव-ढोलक की थाप।
गड़रियों की अनमनी बाँसुरी।
कठफोड़े का ठेका। फुलसुँघनी की आतुर फुरकन :
ओस-बूँद की ढरकन—इतनी कोमल, तरल
कि झरते-झरते मानो
हरसिंगार का फूल बन गई।
भरे शरद् के ताल, लहरियों की सरसर-ध्वनि।
कूँजों का क्रेंकार। काँद लंबी टिट्टिभ की।
पंख-युक्त सायक-सी हंस-बलाका।
चीड़-वनों में गंध-अंध उन्मद पतंग की जहाँ-तहाँ टकराहट
जल-प्रपात का प्लूत एकस्वर।
झिल्ली-दादुर, कोकिल-चातक की झंकार पुकारों की यति में
संसृति की साँय साँय।

'हाँ, मुझे स्मरण है :
दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़
हाथियों का मानो चिंघाड़ रहा हो यूथ।
घरघराहट चढ़ती बहिया की।
रेतीले कगार का गिरना छप्-छड़ाप।
झंझा की फुफकार, तप्त,
पेड़ों का अररा कर टूट-टूट कर गिरना।
ओले की कर्री चपत।
जमे पाले से तनी कटारी-सी सूखी घासों की टूटन।
ऐंठी मिट्टी का स्निग्ध घाम में धीरे-धीरे रिसना।
हिम-तुषार के फाहे धरती के घावों को सहलाते चुप-चाप।
घाटियों में भरती
गिरती चट्टानों की गूँज—

काँपती मंद्र गूँज-अनुगूँज—साँस खोई-सी, धीरे-धीरे नीरव।

'मुझे स्मरण है :
हरी तलहटी में, छोटे पेड़ों की ओट ताल पर
बँधे समय वन-पशुओं की नानाविध आतुर-तृप्त पुकारें :
गर्जन, घुर्घुर, चीख, भूँक, हुक्का, चिचियाहट।
कमल-कुमुद-पत्रों पर चोर-पैर द्रुत धावित
जल-पंछी की चाप
थाप दादुर की चकित छलाँगों की।
पंथी के घोड़े की टाप अधीर।
अचंचल धीर थाप भैंसों के भारी खुर की।

'मुझे स्मरण है :
उझक क्षितिज से
किरण भोर की पहली
जब तकती है ओस-बूँद को
उस क्षण की सहसा चौंकी-सी सिहरन।
और दुपहरी में जब
घास-फूल अनदेखे खिल जाते हैं
मौमाखियाँ असंख्य झूमती करती हैं गुँजार—
उस लंबे विलमे क्षण का तंद्रालस ठहराव।

और साँझ को
जब तारों की तरल कँपकँपी
स्पर्शहीन झरती है—
मानो नभ में तरल नयन ठिठकी
नि:संख्य सवत्सा युवती माताओं के आशीर्वाद—
उस संधि-निमिष की पुलकन लीयमान।

'मुझे स्मरण है :
और चित्र प्रत्येक
स्तब्ध, विजड़ित करता है मुझको।
सुनता हूँ मैं
पर हर स्वर-कंपन लेता है मुझको मुझसे सोख—
वायु-सा नाद-भरा मैं उड़ जाता हूँ।...
मुझे स्मरण है—
पर मुझको मैं भूल गया हूँ :
सुनता हूँ मैं—
पर मैं मुझसे परे, शब्द में लीयमान।

'मैं नहीं, नहीं! मैं कहीं नहीं!
ओ रे तरु! ओ वन!
ओ स्वर-संभार!
नाद-मय संसृति!
ओ रस-प्लावन!
मुझे क्षमा कर—भूल अकिंचनता को मेरी—
मुझे ओट दे—ढँक ले—छा ले—
ओ शरण्य!
मेरे गूँगेपन को तेरे सोए स्वर-सागर का ज्वार डुबा ले!
आ, मुझे भुला,
तू उतर वीन के तारों में
अपने से गा
अपने को गा—
अपने खग-कुल को मुखरित कर
अपनी छाया में पले मृगों की चौकड़ियों को ताल बाँध,
अपने छायातप, वृष्टि-पवन, पल्लव-कुसमन की लय पर
अपने जीवन-संचय को कर छंदयुक्त,

अपनी प्रज्ञा को वाणी दे!
तू गा, तू गा—
तू सन्निधि पा—तू खो
तू आ—तू हो—तू गा! तू गा!'

राजा जागे।
समाधिस्थ संगीतकार का हाथ उठा था—
काँपी थीं उँगलियाँ।
अलस अँगड़ाई ले कर मानो जाग उठी थी वीणा :
किलक उठे थे स्वर-शिशु।
नीरव पदा रखता जालिक मायावी
सधे करों से धीरे धीरे धीरे
डाल रहा था जाल हेम-तारों का।

सहसा वीणा झनझना उठी—
संगीतकार की आँखों में ठंडी पिघली ज्वाला-सी झलक गई—
रोमांच एक बिजली-सा सब के तन में दौड़ गया।
अवतरित हुआ संगीत
स्वयंभू
जिसमें सोता है अखंड
ब्रह्मा का मौन
अशेष प्रभामय।

डूब गए सब एक साथ।
सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।

राजा ने अलग सुना :
जय देवी यशकाय

वरमाल लिए
गाती थी मंगल-गीत,
दुंदुभी दूर कहीं बजती थी,
राज-मुकुट सहसा हलका हो आया था, मानो हो फूल सिरिस
का
ईर्ष्या, महत्त्वाकांक्षा, द्वेष, चाटुता
सभी पुराने लुगड़े-से झर गए, निखर आया था जीवन-कांचन
धर्म-भाव से जिसे निछावर वह कर देगा।

रानी ने अलग सुना :
छँटती बदली में एक कौंध कह गई—
तुम्हारे ये मणि-माणक, कंठहार, पट-वस्त्र,
मेखला-किंकिणि—
सब अंधकार के कण हैं ये! आलोक एक है
प्यार अनन्य! उसी की
विद्युल्लता घेरती रहती है रस-भार मेघ को,
थिरक उसी की छाती पर उसमें छिप कर सो जाती है
आश्वस्त, सहज विश्वास-भरी।
रानी
उस एक प्यार को साधेगी।

सबने भी अलग-अलग संगीत सुना।
इसको
वह कृपा-वाक्य था प्रभुओं का।
उसको
आतंक-मुक्ति का आश्वासन!
इसको
वह भरी तिजोरी में सोने की खनक।

उसे
बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सोंधी खुदबुद।
किसी एक को नई वधू की सहमी-सी पायल-ध्वनि।
किसी दूसरे को शिशु की किलकारी।
एक किसी को जाल-फँसी मछली की तड़पन—
एक अपर को चहक मुक्त नभ में उड़ती चिड़िया की।
एक तीसरे को मंडी की ठेलमठेल, गाहकों की आस्पर्धा भरी बोलियाँ,
चौथे को मंदिर की ताल-युक्त घंटा-ध्वनि।
और पाँचवें को लोहे पर सधे हथौड़े की सम चोटें
और छठे को लंगर पर कसमसा रही नौका पर लहरों की अविराम थपक।
बटिया पर चमरौधे की रुँधी चाप सातवें के लिए—
और आठवें को कुलिया की कटी मेंड़ से बहते जल की छुल-छुल।
इसे गमक नट्टिन की एड़ी के घुँघरू की।
उसे युद्ध का ढोल।
इसे संझा-गोधूली की लघु टुन-टुन—
उसे प्रलय का डमरू-नाद।
इसको जीवन की पहली अँगड़ाई
पर उसको महाजृम्भ विकराल काल!
सब डूबे, तिरे, झिपे, जागे—
हो रहे वंशवद, स्तब्ध :
इयत्ता सब की अलग-अलग जागी,
संघीत हुई,
पा गई विलय।

वीणा फिर मूक हो गई।

साधु! साधु!!

राजा सिंहासन से उतरे—
रानी ने अर्पित की सतलड़ी माल,
जनता विह्वल कह उठी 'धन्य!
हे स्वरजित्! धन्य! धन्य!'

संगीतकार
वीणा को धीरे से नीचे रख, ढँक—मानो
गोदी में सोए शिशु को पालने डालकर मुग्धा माँ
हट जाए, दीठ से दुलराती—
उठ खड़ा हुआ।
बढ़ते राजा का हाथ उठा करता आवर्जन,
बोला :
'श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था—
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सबमें गाता है।'

नमस्कार कर मुड़ा प्रियंवद केशकंबली।

लेकर कंबल गेह-गुफा को चला गया।
उठ गई सभा। सब अपने-अपने काम लगे।
युग पलट गया।

प्रिय पाठक! यों मेरी वाणी भी
मौन हुई।

अल्मोड़ा, 18-20 जून, 1961

उधार

सवेरे उठा तो धूप खिल कर छा गई थी
और एक चिड़िया अभी-अभी गा गई थी।
मैंने धूप से कहा : मुझे थोड़ी गरमाई दोगी उधार?
चिड़िया से कहा : थोड़ी मिठास उधार दोगी?
मैंने घास की पत्ती से पूछा : तनिक हरियाली दोगी—
तिनके की नोक-भर?
शंखपुष्पी से पूछा : उजास दोगी—
किरण की ओक-भर?
मैंने हवा से माँगा : थोड़ा खुलापन—बस एक प्रश्वास,
लहर से : एक रोम की सिहरन-भर उल्लास।
मैंने आकाश से माँगी
आँख की झपकी-भर असीमता—उधार।

सबसे उधार माँगा, सबने दिया।
यों मैं जिया और जीता हूँ
क्योंकि यही सब तो है जीवन—
गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला,

गंधवाही मुक्त खुलापन,
लोच, उल्लास, लहरिल प्रवाह,
और बोध भव्य निर्व्यास निस्सीम का :
ये सब उधार पाए हुए द्रव्य।
रात के अकेले अंधकार में
सपने से जागा जिसमें
एक अनदेखे अरूप ने पुकार कर
मुझसे पूछा था : 'क्यों जी,
तुम्हारे इस जीवन के
इतने विविध अनुभव हैं
इतने तुम धनी हो,
तो मुझे थोड़ा प्यार दोगे उधार जिसे मैं
सौ-गुने सूद के साथ लौटाऊँगा—
और वह भी सौ-सौ बार गिन के—
जब-जब मैं आऊँगा?'

मैंने कहा : प्यार? उधार?
स्वर अचकचाया था, क्योंकि मेरे
अनुभव से परे था ऐसा व्यवहार।
उस अनदेखे अरूप ने कहा : 'हाँ,
क्योंकि ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं—
यह अकेलापन, यह अकुलाहट,
यह असमंजस, अचकचाहट,
आर्त अननुभव,
यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय
विरह-व्यथा,
यह अंधकार में जाग कर सहसा पहचानना कि
जो मेरा है वही ममेतर है।

यह सब तुम्हारे पास है
तो थोड़ा मुझे दे दो—उधार—इस एक बार—
मुझे जो चरम आवश्यकता है।'
उसने यह कहा,
पर रात के घुप अँधेरे में
मैं सहमा हुआ चुप रहा; अभी तक मौन हूँ :
अनदेखे अरूप को
उधार देते मैं डरता हूँ :
क्या जाने
यह याचक कौन है!
कुर्शेवेल, सैवाय, 13 अगस्त, 1961

अपने प्रेम के उद्वेग में

अपने प्रेम के उद्वेग में मैं जो कुछ भी तुमसे कहता हूँ, वह सब पहले कहा जा चुका है।

तुम्हारे प्रति मैं जो कुछ भी प्रणय-व्यवहार करता हूँ, वह सब भी पहले हो चुका है।

तुम्हारे और मेरे बीच में जो कुछ भी घटित होता है उससे एक तीक्ष्ण वेदना-भरी अनुभूति मात्र होती है—कि यह सब पुराना है, बीत चुका है, कि यह अभिनय तुम्हारे ही जीवन में मुझसे अन्य किसी पात्र के साथ हो चुका है!

यह प्रेम एकाएक कैसा खोखला और निरर्थक हो जाता है!
दिल्ली जेल, 16 मार्च, 1933

चुक गया दिन

'चुक गया दिन'—एक लंबी साँस
उठी, बनने मूक आशीर्वाद—
सामने था आर्द्र तारा नील,
उमड़ आई असह तेरी याद!
हाय, यह प्रतिदिन पराजय दिन छिपे के बाद!

चंपानेर (रेल में), 23 सितंबर, 1939

मत पूछो

मत पूछो, शब्द नहीं कह सकते!

स्वरगत यदि हो मेरा मौन, तुम्हारे प्राण नहीं सह सकते!

देखो, शिरा-शिरा है सिहरी—बहा ले चली अनुभव-लहरी—
अंतर्मुख कर सब संज्ञाएँ, तुम्हीं क्यों न उसमें बह सकते?

छूकर ही क्या जाता जाना दो प्राणों का ताना-बाना?
नीरवता का खर-स्वर सुनते, मौन नहीं क्या तुम रह सकते?

मत पूछो, शब्द नहीं कह सकते!

डलहौजी, अगस्त, 1934

घृणा का गान

सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!
तुम, जो भाई को अछूत कह वस्त्र बचा कर भागे,

तुम, जो बहिनें छोड़ बिलखती, बढ़े जा रहे आगे!
रुक कर उत्तर दो, मेरा है अप्रतिहत आह्वान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

तुम, जो बड़े-बड़े गद्दों पर ऊँची दूकानों में,
उन्हें कोसते हो जो भूखे मरते हैं खानों में,
तुम, जो रक्त चूस ठठरी को देते हो जल-दान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

तुम, जो महलों में बैठे दे सकते हो आदेश,
'मरने दो बच्चे, ले आओ खींच पकड़ कर केश!'
नहीं देख सकते निर्धन के घर दो मुट्ठी धान
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

तुम, जो पाकर शक्ति कलम में हर लेने की प्राण—
'निःशक्तों' की हत्या में कर सकते हो अभिमान!
जिनका मत है, 'नीच मरें, दृढ़ रहे हमारा स्थान—'
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

तुम, जो मंदिर में वेदी पर डाल रहे हो फूल,
और इधर कहते जाते हो, 'जीवन क्या है? धूल!'
तुम, जिसकी लोलुपता ने ही धूल किया उद्यान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

तुम, सत्ताधारी मानवता के शव पर आसीन,
जीवन के चिर-रिपु, विकास के प्रतिद्वंद्वी प्राचीन,
तुम, श्मशान के देव! सुनो यह रण-भेरी की तान—
आज तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान!

लाहौर, 30 जनवरी, 1935

अचरज

आज सवेरे
अचरज एक देख मैं आया।

एक घने, पर धूल-भरे-से अर्जुन तरु के नीचे
एक तार पर बिजली के वे सटे हुए बैठे थे—
दो पक्षी छोटे-छोटे,
घनी छाँह में, जग से अलग; किंतु परस्पर सलग।
और नयन शायद अधमीचे।
और उषा की धुंधली-सी अरुणाली थी सारा जग सींचे।
छोटे, इतने क्षुद्र, कि जग की सदा सजग आँखों की एक अकेली
झपकी—
एक पलक में वे मिट जाएँ, कहीं न पाएँ—
छोटे, किंतु द्वित्व में इतने सुंदर, जग-हिय ईर्ष्या से भर जावे;
भर क्यों—भरा सदा रहता है—छल-छल उमड़ा आवे!
—सलग, प्रणय की आँधी में मानो ले दिन-मान,
विधि का करते-से आह्वान।
मैं जो रहा देखता, तब विधि ने भी सब कुछ देखा होगा—
वह विधि, जिसके अधिकृत उनके मिलन-विरह का लेखा
होगा—
किंतु रहे वे फिर भी सटे हुए, संलग्न—
आत्मता में ही तन्मय, तन्मयता में सतत निमग्न!
और—बीत चुका जब मेरे जाने समय युगों का—
आया एक हवा का झोंका—काँपे तार—झरा दो कण नीहार—
उस समय भी तो उनके उर के भीतर
कोई खलिश नहीं थी—कोई रिक्त नहीं था—
नहीं वेदना की टीसों को स्थान कहीं था!

तब भी तो वे सहज परस्पर पंख से पंख मिलाए
वाताहत तम की झकझोर में भी अपने चारों ओर
एक प्रणय का निश्चल वातावरण जमाए
उड़े जा रहे थे, अतिशय निर्द्वंद्व—
और विधि देख रही—निःस्पंद!
लौट चला आया हूँ, फिर भी प्राण पूछते जाते हैं
क्या वह सच था! और नहीं उत्तर पाते हैं—
और कहे ही जाते हैं
कि आज मैं
अचरज एक देख आया।

लाहौर, 1935

मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

प्रिय, मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!
बह गया जग मुग्ध सरि-सा मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

तुम विमुख हो, किंतु मैंने कब कहा उन्मुख रहो तुम?
साधना है सहसनयना—बस, कहीं सम्मुख रहो तुम!
विमुख-उन्मुख से परे भी तत्त्व की तल्लीनता है—
लीन हूँ मैं, तत्त्वमय हूँ अचिर चिर-निर्वाण में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

क्यों डरूँ मैं मृत्यु से या क्षुद्रता के शाप से भी?
क्यों डरूँ मैं क्षीण-पुण्या अवनि के संताप से भी?
व्यर्थ जिसको मापने में हैं विधाता की भुजाएँ—
वह पुरुष मैं, मर्त्य हूँ पर अमरता के मान में हूँ!

मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

रात आती है, मुझे क्या? मैं नयन मूँदे हुए हूँ,
आज अपने हृदय में मैं अंशुमाली को लिए हूँ!
दूर के उस शून्य नभ में सजल तारे छलछलाएँ—
वज्र हूँ मैं, ज्वलित हूँ, बेरोक हूँ, प्रस्थान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

मूक संसृति आज है, पर गूँजते हैं कान मेरे,
बुझ गया आलोक जग में, धधकते हैं प्राण मेरे।
मौन या एकांत या विच्छेद क्यों मुझको सताए?
विश्व झंकृत हो उठे, मैं प्यार के उस गान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

जगत है सापेक्ष, याँ है कलुष तो सौंदर्य भी है,
हैं जटिलताएँ अनेकों—अंत में सौकर्य भी है।
किंतु क्यों विचलित करे मुझको निरंतर की कमी यह—
एक है अद्वैत जिस स्थल आज मैं उस स्थान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

वेदना अस्तित्व की, अवसान की दुर्भावनाएँ—
भव-मरण, उत्थान-अवनति, दुख-सुख की प्रक्रियाएँ
आज सब संघर्ष मेरे पा गए सहसा समन्वय—
आज अनिमिष देख तुमको लीन मैं चिर-ध्यान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!
बह गया जग मुग्ध-सरि-सा मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!
प्रिय, मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

दिल्ली (एक कवि-सम्मेलन में बैठे-बैठे)
21 जुलाई, 1936

आज थका हिय-हारिल मेरा!

इस सूखी दुनिया में प्रियतम मुझको और कहाँ रस होगा?
शुभे! तुम्हारी स्मृति के सुख से प्लावित मेरा मानस होगा!

दृढ़ डैनों के मार थपेड़े अखिल व्योम को वश में करता,
तुझे देखने की आशा से अपने प्राणों में बल भरता,

ऊषा से ही उड़ता आया, पर न मिल सकी तेरी झाँकी
साँझ समय थक चला विकल मेरे प्राणों का हारिल-पाखी :

तृषित, श्रांत, तम-भ्रांत और निर्मम झंझा-झोकों से ताड़ित—दरस
प्यास है असह, वही पर किए हुए उसको अनुप्राणित!

गा उठते हैं, 'आओ आओ!' केकी प्रिय घन को पुकार कर
स्वागत की उत्कंठा में वे हो उठते उद्भ्रांत नृत्य पर!

चातक-तापस तरु पर बैठा स्वाति-बूँद में ध्यान रमाए,
स्वप्न तृप्ति का देखा करता 'पी! पी! पी!' की टेर लगाए;

हारिल को यह सह्य नहीं है—वह पौरुष का मदमाता है :
इस जड़ धरती को ठुकरा कर उषा-समय वह उड़ जाता है।

'बैठो, रहो, पुकारो-गाओ, मेरा वैसा धर्म नहीं है;
मैं हारिल हूँ, बैठे रहना मेरे कुल का कर्म नहीं है।

तुम प्रिय की अनुकंपा माँगो, मैं माँगूँ अपना समकक्षी
साथ-साथ उड़ सकनेवाला एक मात्र वह कंचन-पक्षी!'

यों कहता उड़ जाता हारिल लेकर निज भुज-बल का संबल
किंतु अंत संध्या आती है—आखिर भुज-बल है कितना बल

कोई गाता, किंतु सदा मिट्टी से बँधा-बँधा रहता है,
कोई नभ-चारी, पर पीड़ा भी चुप होकर ही सहता है;

चातक हैं, केकी हैं, संध्या को निराश हो सो जाते हैं,
हारिल हैं—उड़ते-उड़ते ही अंत गगन में खो जाते हैं।

कोई प्यासा मर जाता है, कोई प्यासा जी लेता है,
कोई परे मरण-जीवन से कड़ुवा प्रत्यय पी लेता है।

आज प्राण मेरे प्यासे हैं, आज थका हिय-हारिल मेरा
आज अकेले ही उसको इस अँधियारी संध्या ने घेरा।

मुझे उतरना नहीं भूमि पर तब इस सूने में खोऊँगा
धर्म नहीं है मेरे कुल का—थक कर भी मैं क्यों रोऊँगा?

पर प्रिय! अंत समय में क्या तुम इतना मुझे दिलासा दोगे—
जिस सूने में मैं लुट चला, कहीं उसी में तुम भी होगे?

इस सूखी दुनिया में प्रियतम मुझको और कहाँ रस होगा?
शुभे! तुम्हारी स्मृति के सुख से प्लावित मेरा मानस होगा।

वड़ोदरा, 30 अगस्त, 1936

द्वितीया

मेरे सारे शब्द प्यार के किसी दूर विगता के जूठे :
तुम्हें मनाने हाय कहाँ से ले आऊँ मैं भाव अनूठे?
तुम देती हो अनुकंपा से मैं कृतज्ञ हो ले लेता हूँ—
तुम रूठीं—मैं मन मसोस कर कहता, भाग्य हमारे रूठे!

मैं तुमको संबोधन कर मीठी-मीठी बातें करता हूँ,
किंतु हृदय के भीतर किसकी तीखी चोट सदा सहता हूँ?
बातें सच्ची हैं, यद्यपि वे नहीं तुम्हारी हो सकती हैं—
तुमसे झूठ कहूँ कैसे जब उसके प्रति सच्चा रहता हूँ?

मेरा क्या है दोष कि जिसको मैंने जी भर प्यार किया था,
प्रात-किरण ज्यों नव-कलिका में जिसको उर में धार लिया था,
मुझ आतुर को छोड़ अकेली जाने किस पथ चली गई वह—
एक आग के फेरे करके जिस पर सब कुछ वार दिया था?

मेरा क्या है दोष कि मैंने तुमको बाद किसी के जाना?
अपना जब छिन गया, पराए धन का तब गौरव पहचाना?
प्रथम बार का मिलन चिरंतन सोचो, कैसे हो सकता है—
जब इस जग के चौराहे पर लगा हुआ है आना-जाना?

होगी यह कामुकता जो मैं तुमको साथ यहाँ ले आया—
किसी गता के आसन पर जो बरबस मैंने तुम्हें बिठाया,
किंतु देखता हूँ, मेरे उर में अब भी वह रिक्त बना है,
निर्बल होकर भी मैं उसकी स्मृति से अलग कहाँ हो पाया?

तुम न मुझे कोसो, लज्जा से मस्तक मेरा झुका हुआ है,
उर में वह अपराध व्यक्त है ओंठों पर जो रुका हुआ है—
आज तुम्हारे सम्मुख जो उपहार रूप रखने आया हूँ
वह मेरा मन-फूल दूसरी वेदी पर चढ़ चुका हुआ है!

फिर भी मैं कैसे आया हूँ क्यों कर यह तुमको समझाऊँ—
स्वयं किसी का होकर कैसे मैं तुमको अपना कह पाऊँ?
पर मंदिर की माँग यही है वेदी रहे न क्षण-भर सूनी
वह यह कब इंगित करता है किसकी प्रतिमा वहाँ बिठाऊँ?

नहीं अंग खो कर लकड़ी पर हृदय अपाहिज का थमता है।
किंतु उसी पर धीरे-धीरे पुनः धैर्य उसका जमता है।
उर उसको धारे है, फिर भी तेरे लिए खुला जाता है—
उतना आतुर प्यार न हो पर उतनी ही कोमल ममता है!

शायद यह भी धोखा ही हो, तब तुम सच मानोगी इतना :
एक तुम्हीं को दे देता हूँ उससे बच जाता है जितना।
और छोड़ कर मुझको वह निर्मम इतनी अब है संन्यासिनि—
उसको भोग लगा कर भी तो बच जाता है जाने कितना!

प्यार अनादि स्वयं है, यद्यपि हममें अभी-अभी आया है,
बीच हमारे जाने कितने मिलने-विग्रहों की छाया है—
मति तो उसके साथ गई, पर यह विचार कर रह जाता हूँ—
वह भी थी विडंबना विधि की यह भी विधना की माया है!

उस अत्यंतगता की स्मृति को फिर दो सूखे फूल चढ़ा कर
उस दीपक की अनझिप ज्वाला आदर से थोड़ा उकसा कर
मैं मानो उसकी अनुमति से फिर उसकी याद हरी करता हूँ—
उससे कही हुई बातें फिर-फिर तेरे आगे दुहरा कर!

दिल्ली, 13 जनवरी, 1937

आशीः

(वसंत के एक दिन)

फूल कचनार के,
प्रतीक मेरे प्यार के!
प्रार्थना-सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली,

पत्तियों का संपुट, निवेदिता ज्यों अंजली।
आए फिर दिन मनुहार के, दुलार के
—फूल कचनार के!

सुमन-वृंत बावले बबूल के!
झोंके ऋतुराज के वसंती दुकूल के,

बूर बिखराता जा पराग अंगराग का,
दे जा स्पर्श ममता की सिहरती आग का।
आवे मत्त गंध वह ढीठ हूल-हूल के
—सुमन वृंत बावले बबूल के!

कली री पलास की!
टिमटिमाती ज्योति मेरी आस की
या कि शिखा ऊर्ध्वमुखी मेरी दीप्त प्यास की।

वासना-सी मुखरा, वेदना-सी प्रखरा
दिगंत में, प्रांतर में, प्रांत में
खिल उठ, झूल जा, मस्त हो,
फैल जा वनांत में—
मार्ग मेरे प्रणय का प्रशस्त हो!

शिलङ्, मार्च, 1944

वीर-बहू

एक दिन देवदारु-वन बीच छनी हुई
किरणों के जाल में से साथ तेरे घूमा था।

फेनिल प्रपात पर छाए इंद्र-धनु की
फुहार तले मोर-सा प्रमत्त-मन झूमा था

बालुका में अँकी-सी रहस्यमयी वीर-बहू
पूछती है रव-हीन मखमली स्वर से :
याद है क्या, ओट में बुरूँस की प्रथम बार
धन मेरे, मैंने जब ओंठ तेरा चूमा था?

शिलङ्; मार्च, 1944

पानी बरसा!

ओ पिया, पानी बरसा!

घास हरी हुलसानी
मानिक के झूमर-सी झूमी मधु-मालती
झर पड़े जीते पीत अमलतास
चातकी की वेदना बिरानी।
बादलों का हाशिया है आसपास—
बीच लिखी पाँत काली बिजली की—
कूँजों की डार, कि असाढ़ की निशानी!
ओ पिया, पानी!
मेरा जिया हरसा।

खड़खड़ कर उठे पात, फड़क उठे गात।
देखने को आँखें घेरने को बाँहें।
पुरानी कहानी?
ओंठ को ओंठ, वक्ष को वक्ष—

ओ पिया, पानी!
मेरा हिया तरसा।
ओ पिया, पानी बरसा!
जलंधर, 2 जुलाई, 1945

देखती है दीठ

हँस रही है वधू—जीवन तृप्तिमय है।
प्रिय-वदन अनुरक्त—यह उसकी विजय है।
गेह है, गति, गीत है, लय है, प्रणय है :
सभी कुछ है।
देखती है दीठ—
लता टूटी, कुरमुराता मूल में है सूक्ष्म भय का कीट!
शिलङ्, 15 नवंबर, 1945

एक ऑटोग्राफ

अल्ला रे अल्ला
होता न मनुष्य मैं, होता करमकल्ला।
रूखे कर्म जीवन से उलझता न पल्ला।
चाहता न नाम कुछ, माँगता न दाम कुछ,
करता न काम कुछ, बैठता निठल्ला—
अल्ला रे अल्ला!
इलाहाबाद, 30 जुलाई, 1946

पराजय है याद

भोर बेला—नदी तट की घंटियों का नाद।
चोट खा कर जग उठा सोया हुआ अवसाद।
नहीं, मुझको नहीं अपने दर्द का अभिमान—
मानता हूँ मैं पराजय है तुम्हारी याद!

काशी, 14 नवंबर, 1946

पावस-प्रात, शिलङ्

भोर बेला। सिंची छत से ओस की तिप्-तिप्! पहाड़ी काक
की विजन को पकड़ती-सी क्लांत बेसुर डाक—
'हाक्! हाक्! हाक्!'

मत सँजो यह स्निग्ध सपनों का अलस सोना—
रहेगी बस एक मुट्ठी खाक!
'थाक्! थाक्! थाक्!'

शिलङ्, 12 जुलाई, 1947

सागर के किनारे

तनिक ठहरूँ। चाँद उग आए, तभी जाऊँगा वहाँ नीचे
कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे। चाँद उग आए।
न उसकी बुझी फीकी चाँदनी में दिखें शायद
वे दहकते लाल गुच्छ बुरूँस के जो
तुम हो।

न शायद चेत हो, मैं नहीं हूँ वह डगर गीली दूब से मेदुर,
मोड़ पर जिसके नदी का कूल है, जल है,
मोड़ के भीतर—घिरे हों बाँह में ज्यों—गुच्छ लाल बुरूँस के उत्फुल्ल।

न आए याद, मैं हूँ किसी बीते साल के सीले कलेंडर की
एक बस तारीख, जो हर साल आती है।
एक बस तारीख—अंकों में लिखी ही जो न जावे
जिसे केवल चंद्रमा का चिह्न ही बस करे सूचित—
बंक—आधा—शून्य; उलटा बंक—काला वृत्त,
यथा पूनो—तीज-तेरस—सप्तमी,
निर्जला एकादशी—या अमावस्या।

अँधेरे में ज्वार ललकेगा—
व्यथा जागेगी। न जाने दीख क्या जाए जिसे आलोक फीका सोख लेता है।
तनिक ठहरूँ। कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे
तभी जाऊँ वहाँ नीचे—चाँद उग आए।

बांदरा (बंबई), 9 अगस्त, 1947

दूर्वांचल

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में।
मैंने आँख भर देखा।

दिया मन को दिलासा—पुनः आऊँगा।
(भले ही बरस-दिन—अनगिन युगों के बाद!)
क्षितिज ने पलक-सी खोली,
तमक कर दामिनी बोली—
'अरे यायावर! रहेगा याद?'

माफ्लङ् (शिलङ्), 22 सितंबर, 1947

शरणार्थी 11: जीना है बन सीने का साँप

हमने भी सोचा था कि अच्छी चीज़ है स्वराज
हमने भी सोचा था कि हमारा सिर
ऊँचा होगा ऐक्य में। जानते हैं पर आज
अपने ही बल के
अपने ही छल के
अपने ही कौशल के
अपनी समस्त सभ्यता के सारे
संचित प्रपंच के सहारे

जीना है हमें तो, बन सीने का साँप उस अपने समाज के
जो हमारा एक मात्र अक्षंतव्य शत्रु है
क्योंकि हम आज हो के मोहताज
उसके भिखारी शरणार्थी हैं।

मुरादाबाद स्टेशन, आधी रात, 12 नवंबर, 1947

कतकी पूनो

छिटक रही है चाँदनी, मदमाती उन्मादिनी

कलगी-मौर सजाव ले कास हुए हैं बावले
पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गई फलाँगती—
सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमक कर झाँकती!
कुहरा झीना और महीन, झर-झर पड़े अकासनीम
उजली-लालिम मालती गंध के डोरे डालती,
मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोर की—
तेरी बाट अगोरते ये आँखें हुईं चकोर की?
इलाहाबाद-लखनऊ (रेल में),
30 नवंबर, 1947

जब पपीहे ने पुकारा

जब पपीहे ने पुकारा—मुझे दीखा—
दो पँखुरियाँ झरीं लाल गुलाब की, तकतीं पियासी
पिया-से ऊपर झुके उस फूल को

ओंठ ज्यों ओंठों तले।

मुकुर में देखा गया हो दृश्य पानीदार आँखों के।

हँस दिया मन दर्द से—
'ओ मूढ! तूने अब तलक कुछ नहीं सीखा।'
जब पपीहे ने पुकारा—मुझे दीखा।
इलाहाबाद,
1 अगस्त, 1948

माहीवाल से

शांत हो। काल को भी समय थोड़ा चाहिए।

जो घड़े—कच्चे, अपात्र!—डुबा गए मँझधार
तेरी सोहनी को चंद्रभागा की उफनती छालियों में
उन्हीं में उसी का जल अनंतर तू पी सकेगा
औ' कहेगा, 'आह, कितनी तृप्ति!'
क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीक पर तो मत समझ
वह अनुष्टूप् बाँचता है संगिनी से स्मरण के—
जान ले, वह दीमकों की टोह में है।
कविजनोचित न हो चाहे, यही सच्चा साक्ष्य है :
एक दिन तू सोहनी से पूछ लेना।

इलाहाबाद, 8 अगस्त, 1948

हरी घास पर क्षण भर

आओ बैठें
इसी ढाल की हरी घास पर।
माली-चौकीदारों का यह समय नहीं है,
और घास तो अधुनातन मानव-मन की भावना की तरह
सदा बिछी है—हरी, न्यौतती, कोई आ कर रौंदे।

आओ, बैठो।
तनिक और सट कर, कि हमारे बीच स्नेह-भर का व्यवधान रहे,
बस,
नहीं दरारें सभ्य शिष्ट जीवन की।

चाहे बोलो, चाहे धीरे-धीरे बोलो, स्वगत गुनगुनाओ,
चाहे चुप रह जाओ—
हो प्रकृतस्थ : तनो मत कटी-छँटी उस बाड़ सरीखी,

नमो, खुल खिलो, सहज मिलो
अंत:स्मित, अंत:संयत हरी घास-सी।

क्षण-भर भुला सकें हम
नगरी की बेचैन बुदकती गड्ड-मड्ड अकुलाहट—
और न मानें उसे पलायन;
क्षण भर देख सकें आकाश, धरा, दूर्वा, मेघाली,
पौधे, लता दोलती, फूल, झरे पत्ते, तितली-भुनगे,
फुनगी पर पूँछ उठा कर इतराती छोटी-सी चिड़िया—
और न सहसा चोर कह उठे मन में—
प्रकृतिवाद है स्खलन
क्योंकि युग जनवादी है।

क्षण-भर हम न रहें रह कर भी :
सुनें गूँज भीतर के सूने सन्नाटे में
किसी दूर सागर की लोल लहर की
जिसकी छाती की हम दोनों छोटी-सी सिहरन हैं—
जैसे सीपी सदा सुना करती है।

क्षण-भर लय हों—मैं भी, तुम भी,
और न सिमटें सोच कि हमने
अपने से भी बड़ा किसी भी अपर को क्यों माना!

क्षण-भर अनायास हम याद करें :
तिरती नाव नदी में,
धूल-भरे पथ पर असाढ़ की भभक, झील में साथ तैरना,
हँसी अकारण खड़े महा-वट की छाया में,
वदन घाम से लाल, स्वेद से जमी अलक-लट,
चफ्ड़ठा कठ वन, पठथ-पठथ दढलकफ चलत। दठ। घ्ठठ।ड।,
गफ्लफ व्वठ नदी की, फूले नथूने, भर्राई सीटी स्टीमर की,

खंडहर, ग्रथित अंगुलियाँ, बाँसे का मधु,
डाकिए के पैरों की चाँप
अधजानी बबूल की धूल मिली-सी गंध,
झरा रेशम शिरीष का, कविता के पद,
मसज़िद के गुंबद के पीछे सूर्य डूबता धीरे-धीरे,
झरने के चमकीले पत्थर, मोर-मोरनी, घुँघरू,
संथाली झूमुर का लंबा कसक-भरा आलाप,
रेल का आह की तरह धीरे-धीरे खिंचना, लहरें,
आँधी-पानी,
नदी किनारे की रेती पर बित्ते-भर की छाँह झाड़ की
अँगुल-अँगुल नाप-नाप कर तोड़े तिनकों का समूह,
लू,
मौन।
याद कर सकें अनायास : और न मानें
हम अतीत के शरणार्थी हैं;
स्मरण हमारा—जीवन के अनुभव का प्रत्यवलोकन—
हमें न हीन बनावे प्रत्यभिमुख होने के पाप-बोध से।
आओ बैठो : क्षणभर :
यह क्षण हमें मिला है नहीं नगर-सेठों की फ़ैयाजी से।
हमें मिला है यह अपने जीवन की निधि से ब्याज सरीखा।

आओ बैठो : क्षण भर तुम्हें निहारूँ।
अपनी जानी एक-एक रेखा पहचानूँ
चेहरे की, आँखों की—अंतर्मन की
और—हमारी साझे की अनगिन स्मृतियों की :
तुम्हें निहारूँ,
झिझक न हो कि निरखना दबी वासना की विकृति है!
धीरे-धीरे

धुंधले में चेहरे की रेखाएँ मिट जाएँ—
केवल नेत्र जगें : उतनी ही धीरे
हरी घास की पत्ती-पत्ती भी मिट जावे लिपट झाड़ियों के पैरों में
और झाड़ियाँ भी घुल जावें क्षिति-रेखा के मसृण ध्वांत में;
केवल बना रहे विस्तार—हमारा बोध
मुक्ति का,
सीमाहीन खुलेपन का ही।

चलो, उठें अब;
अब तक हम थे बंधु सैर को आए—
(देखें हैं क्या कभी घास पर लोट-पोट होते सतभैये शोर मचाते?)

और रहे बैठे तो लोग कहेंगे
धुंधले में दुबके प्रेमी बैठे हैं।

—वह हम हों भी तो यह हरी घास ही जाने :
(जिसके खुले निमंत्रण के बल जग ने सदा उसे रौंदा है
और वह नहीं बोली),
नहीं सुनें हम वह नगरी के नागरिकों से
जिनकी भाषा में अतिशय चिकनाई है साबुन की
किंतु नहीं है करुणा।

उठो, चलें, प्रिय।

इलाहाबाद, 14 अक्तूबर, 1949

छंद है यह फूल

छंद है यह फूल, पत्ती प्रास।
सभी कुछ में है नियम की साँस।

कौन-सा वह अर्थ जिसकी अलंकृति कर नहीं सकती
यही पैरों तले की घास?

समर्पण लय, कर्म है संगीत,
टेक करुणा—सजग मानव-प्रीति।
यति न खोजो—अहं ही यति है!—स्वयं रणरणित होते रहो, मेरे
मीत!

इलाहाबाद, 29 दिसंबर, 1949

घास-फूल धैर्य का

दृश्यों के अंतराल में जीवन बिला गया
संशय के दंश से साहस तिलमिला गया
प्यार पर हारा नहीं अमल विनय से
घास-फूल धैर्य का चुपके खिला गया।

इलाहाबाद, 23 फरवरी, 1950

काँगड़े की छोरियाँ

काँगड़े की छोरियाँ कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ
लाला जी, ज़ेवर बनवा दो खाली करो तिजोरियाँ!
काँगड़े की छोरियाँ!

ज्वार-मका की क्यारियाँ हरियाँ-भरियाँ प्यारियाँ
धन-खेतों में लहर हवा की सुना रही है लोरियाँ—
काँगड़े की छोरियाँ!

पुतलियाँ चंचल कालियाँ कानों झुमके-बालियाँ
हम चौड़े में खड़े लुट गए बनी न हमसे चोरियाँ—
काँगड़े की छोरियाँ!

काँगड़े की छोरियाँ कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ।
काँगड़ा, नूरपुर (बस में), 24 जून, 1950

वहाँ रात

पत्थरों के उन कँगूरों पर
अजानी गंध-सी अब छा गई होगी उपेक्षित रात।
बिछलती डगर-सी सुनसान सरिता पर
ठिठक कर सहम कर थम गई होगी वात।

अनमनी-सी धुंध में चुपचाप
हताशा में ठगे से, वेदना से क्लिन्न, पुरनम टमकते तारे।
हार कर मुरझा गए होंगे अँधेरे में बिचारे—
विरस रेतीली नदी के दोनों किनारे।

रुके होंगे युगल चकवे बाँध अंतिम बार
जल पर वृत्त मिट जाते दिवस के प्यार का—
अपनी हार का।
गंध-लोभी व्यस्त मौना कोष करके बंद
पड़ी होगी मौन
समेटे पंख, खींचे डंक, मोय के निज मौन में निष्पंद!

पंचमी की चाँदनी कँपती उँगलियों से

आँख पथराई समय की आँज जावेगी।
लिखत को 'आज' की फिर पोंछ 'कल' के लिए
पाटी माँज जावेगी।

कहा तो सहज, पीछे लौट देखेंगे नहीं—
पर नकारों के सहारे कब चला जीवन?
स्मरण को पाथेय बनने दो :
कभी तो अनुभूति उमड़ेगी प्लवन का सांद्र घन भी बन!

इलाहाबाद, 19 जनवरी, 1951

हवाई यात्रा

फैला है पठार, सलवट की ओट बिछा है कंथा :
काली परती, भूरे ऊसर, तोतापरी खेत गेहूँ के,
कितनी हैं थिगलियाँ पुराने इस कंथे पर!
सिलीं मेंड़ की या पगडंडी की ज़र्जर डोरी से—
उपयोगी थिगलियाँ।
कहीं पर
किसी मनचले कलाकार की आँकी-बाँकी हरी लीक
कुलिया की।

कंथे पर यह जमी हुई है चौसर :
इतनी ऊँचे से गोटें तो नहीं दीखतीं
पर घर पहचाने जाते हैं।

इधर रहा यह गोल रहँट का :
काले-चिट्टे चींटे खींच रहे हैं एक सुरमचू,

सुरमेदानी नहीं दीखती: मस्से-सा कुएँ का मुँह है।
उधर बिछे हैं ढेर नाज के—टीले खलिहानों के—
सोने के मन-लोभन पाँसे।

मैं तो हूँ उड़ रहा खिलाड़ी :
जाने-अनजाने माने हूँ जोखम का है खेल हवाई यात्रा।
पर नीचे चौसर के अगल-बगल जो पाँसे डाले खेल बिछाए
हर दम रहता—
उस अपने आड़ी किसान की जोखम मुझसे बहुत बड़ी है—

मैं जो अपनी एक जान को ही चिपटे हूँ—
वह अपने आगे-पीछे सैकड़ों पीढ़ियाँ दाँव-दाँव पर बद देता है।

ऊँचाई कम हो चली : शीघ्र ही वायुयान उतरेगा।
बड़े शहर के ढंग और हैं : हम गोटें हैं वहाँ :

दाँव गहरे हैं उस चौपट के।

दिल्ली-बंबई, 23 मार्च, 1951

बावरा अहेरी

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ :
छोटी-छोटी चिड़ियाँ, मँझोले परेवे, बड़े-बड़े-पंखी
डैनोंवाले डीलवाले डौल के बेडौल
उड़ने जहाज़,

कलस–तिसूलवाले मंदिर–शिखर से ले
तारघर की नाटी मोटी चिपटी गोल धुस्सोंवाली उपयोग–सुंदरी
बेपनाह काया को :
गोधूली की धूल को, मोटरों के धुएँ को भी
पार्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक–खची तन्वि
रूप–रेखा को
और दूर कचरा जलानेवाली कल की उद्दंड चिमनियों को, जो
धुआँ यों उगलती हैं मानो उसी मात्र से अहेरी को हरा देंगी!

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखेट है :
एक बस मेरे मन–विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़ कर क्या तू चला जाएगा?
ले, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खँडर की शिरा–शिरा छेद दे आलोक की अनी से
अपनी,
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे :
विफल दिनों की तू कलौंस पर माँज जा
मेरी आँखें आँज जा
कि तुझे देखूँ
देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आए
पहनूँ सिरोपे से ये कनक–तार तेरे—
बावरे अहेरी।

दिल्ली, 2 सितंबर, 1951

आज तुम शब्द न दो

आज तुम शब्द न दो, न दो, कल भी मैं कहूँगा।

तुम पर्वत हो अभ्र-भेदी शिला-खंडों के गरिष्ठ पुंज
चाँपे इस निर्झर को रहो, रहो,
तुम्हारे रंध्र-रंध्र से तुम्हीं को रस देता हुआ फूट कर मैं बहूँगा।

तुम्हीं ने दिया यह स्पंद
तुम्हीं ने धमनी में बाँधा है लहू का वेग यह मैं अनुक्षण जानता हूँ।
गति जहाँ सब कुछ है, तुम धृति पारमिता, जीवन के सहज छंद
तुम्हें पहचानता हूँ।
माँगो तुम चाहे जो: माँगोगे, दूँगा; तुम दोगे जो मैं सहूँगा।
आज नहीं, कल सही
कल नहीं, युग-युग बाद ही :

मेरा तो नहीं है यह
चाहे वह मेरी असमर्थता से बँधा हो।
मेरा भाव-यंत्र? एक मड़िया है सूखी घास-फूस की
उसमें छिपेगा नहीं औघड़ तुम्हारा दान—
साध्य नहीं मुझसे, किसी से चाहे सधा हो।

आज नहीं, कल सही
चाहूँ भी तो कब तक छाती में दबाए यह आग मैं रहूँगा?
आज तुम शब्द न दो, न दो—कल भी मैं कहूँगा।

दिल्ली, 21 अगस्त, 1953

यह दीप अकेला

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गाएगा?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लाएगा?

यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगाएगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह मधु है: स्वयं काल की मौना का युग-संचय,
यह गोरस : जीवन-कामधेनु का अमृत-पूत पय,
यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय,
यह प्रकृत, स्वयंभू, ब्रह्म, अयुत : इसको भी शक्ति को दे दो।
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।
यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा,
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा;
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुंधुआते कड़ुवे तम में
यह सदा-द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लंब-बाहू, यह चिर-अखंड अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय, इसको भक्ति को दे दो :
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।

नई दिल्ली (आल्प्स कहवाघर में), 18 अक्तूबर, 1952

जो कहा नहीं गया

है, अभी कुछ और जो कहा नहीं गया।

उठी एक किरण, धायी, क्षितिज को नाप गई,
सुख की स्मिति कसक-भरी, निर्धन की नैन-कोरों में काँप गई,
बच्चे ने किलक भरी, माँ की वह नस-नस में व्याप गई।

अधूरी हो, पर सहज थी अनुभूति :
मेरी लाज मुझे साज बन ढाँप गई—
फिर मुझ बेसबरे से रहा नहीं गया।
पर कुछ और रहा जो कहा नहीं गया।

निर्विकार मरु तक को सींचा है
तो क्या? नदी-नाले ताल-कुएँ से पानी उलीचा है
तो क्या? उड़ा हूँ, दौड़ा हूँ, तेरा हूँ, पारंगत हूँ,
इसी अहंकार के मारे
अंधकार में सागर के किनारे ठिठक गया : नत हूँ
उस विशाल में मुझसे बहा नहीं गया।
इसलिए जो और रहा, वह कहा नहीं गया।

शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।
शायद केवल इतना ही : जो दर्द है
वह बड़ा है, मुझसे ही सहा नहीं गया।
तभी तो, जो अभी और रहा, वह कहा नहीं गया।
दिल्ली, 27 अक्तूबर, 1953

मैं वहाँ हूँ

दूर दूर दूर...मैं वहाँ हूँ!

यह नहीं कि मैं भागता हूँ :
मैं सेतु हूँ—जो है और जो होगा दोनों को मिलाता हूँ—
मैं हूँ, मैं यहाँ हूँ, पर सेतु हूँ इसलिए

दूर दूर दूर...मैं वहाँ हूँ!

यह जो मिट्टी गोड़ता है, कोदई खाता है और गेहूँ खिलाता है
उसकी मैं साधना हूँ।
यह जो मिट्टी फोड़ता है, मड़िया में रहता है और महलों को
बनाता है
उसकी मैं आस्था हूँ।

यह जो कज्जल-पुता खानों में उतरता है
पर चमाचम विमानों को आकाश में उड़ाता है,
यह जो नंगे बदन, दम साध, पानी में उतरता है
और बाज़ार के लिए पानीदार मोती निकाल लाता है,
यह जो कलम घिसता है, चाकरी करता है पर सरकार को
चलाता है
उसकी मैं व्यथा हूँ।

यह जो कचरा ढोता है,
यह जो झल्ली लिए फिरता है और बेघरा घूरे पर सोता है,

यह जो गदहे हाँकता है, यह जो तंदूर झोंकता है,
यह जो कीचड़ उलीचती है,
यह जो मनियार सजाती है,
यह जो कंधे पर चूड़ियों की पोटली लिए गली-गली झाँकती है,
यह जो दूसरों का उतारन फींचती है,
यह जो रद्दी बटोरता है,
यह जो पापड़ बेलता है, बीड़ी लपेटता है, वर्क कूटता है,
धौंकनी फूँकता है, कलाई गलाता है, रेढ़ी ठेलता है,
चौक लीपता है, बासन माँजता है, ईंटें उछालता है,

रूई धुनता है, गारा सानता है, खटिया बुनता है,
मशक से सड़क सींचता है,
रिक्शा में अपना प्रतिरूप लादे खींचता है,
जो भी जहाँ भी पिसता है पर हारता नहीं, न मरता है—
पीड़ित श्रमरत मानव
अविजित दुर्जेय मानव
कमकर, श्रमकर, शिल्पी, स्रष्टा—
उसकी मैं कथा हूँ।

दूर दूर दूर... मैं वहाँ हूँ—
यह नहीं कि मैं भागता हूँ :
मैं सेतु हूँ—जो है और जो होगा, दोनों को मिलाता हूँ—
पर सेतु हूँ इसलिए
दूर दूर दूर...मैं वहाँ हूँ।

किंतु मैं वहाँ हूँ तो ऐसा नहीं है कि मैं यहाँ नहीं हूँ।
मैं दूर हूँ, जो है और जो होगा उसके बीच सेतु हूँ
तो ऐसा नहीं है कि जो है उसे मैंने स्वीकार कर लिया है।

मैं आस्था हूँ तो मैं निरंतर उठते रहने की शक्ति हूँ,
मैं व्यथा हूँ तो मैं मुक्ति का श्वास हूँ,
मैं गाथा हूँ तो मैं मानव का अलिखित इतिहास हूँ,
मैं साधना हूँ तो मैं प्रयत्न में कभी शिथिल न होने का निश्चय हूँ,
मैं संघर्ष हूँ जिसे विश्राम नहीं,
जो है मैं उसे बदलता हूँ, जो मेरा कर्म है, उसमें मुझे संशय का नाम नहीं,
वह मेरा अपनी साँस-सा पहचाना है,
लेकिन घृणा—घृणा से मुझे काम नहीं

क्योंकि मैंने डर नहीं जाना है।
मैं अभय हूँ,
मैं भक्ति हूँ
मैं जय हूँ।

दूर दूर दूर...मैं सेतु हूँ,
किंतु शून्य-से-शून्य तक का सतरंगी सेतु नहीं,
वह सेतु, जो मानव-से-मानव का हाथ मिलने से बनता है,
जो हृदय-से-हृदय को, श्रम की शिखा से श्रम की शिखा को
कल्पना के पंख से कल्पना के पंख को,
विवेक की किरण से विवेक की किरण को
अनुभव के स्तंभ से अनुभव के स्तंभ को मिलाता है,
जो मानव को एक करता है,
समूह का अनुभव जिसकी मेहराबें हैं
और जन-जीवन की अजस्त्र प्रवाहमयी नदी जिसके नीचे से
बहती है
मुड़ती, बल खाती, नए मार्ग फोड़ती, नए करारे तोड़ती,
चिर परिवर्तनशीला, सागर की ओर जाती, जाती, जाती...
मैं वहाँ हूँ—दूर, दूर, दूर!

दिल्ली (बस में), 20 सितंबर, 1954

क्योंकि तुम हो

मेघों को सहसा चिकनी अरुणाई छू जाती है
तारागण से एक शांति-सी छन-छन कर आती है
क्योंकि तुम हो।

फुटकी की लहरिल उड़ान

शाश्वत के मूक गान की स्वर लिपि-सी संझा के पट पर अँक
जाती है,
जुगनू की छोटी-सी द्युति में नए अर्थ की
अनपहचाने अभिप्राय की किरण चमक जाती है
क्योंकि तुम हो।

जीवन का हर कर्म समर्पण हो जाता है
आस्था का आप्लवन एक संशय के कल्मष धो जाता है
क्योंकि तुम हो।

कठिन विषमताओं के जीवन में लोकोत्तर सुख का स्पंदन मैं
भरता हूँ
अनुभव की कच्ची मिट्टी को तदाकार कंचन करता हूँ
क्योंकि तुम हो।

तुम तुम हो; मैं—क्या हूँ?
ऊँची उड़ान, छोटे कृतित्व की लंबी परंपरा हूँ,
पर कवि हूँ स्रष्टा, द्रष्टा, दाता :
जो पाता हूँ अपने को भट्ठी कर उसे गलाता-चमकाता हूँ।

अपने को मट्टी कर उसका अंकुर पनपाता हूँ
पुष्प-सा, सलिल-सा, प्रसाद-सा, कंचन-सा, शस्य-सा, पुण्य-सा
अनिर्वच आह्लाद-सा लुटाता हूँ
क्योंकि तुम हो।

दिल्ली, इलाहाबाद (रेल में), 18 अक्तूबर 1954

तुम कदाचित् न भी जानो

मंजरी की गंध भारी हो गई है

अलस है गुँजार भौंरे की—अलस और उदास।
क्लांत पिक रह-रह तड़प कर कूकता है। जा रहा मधु-मास।
मुस्कराते रूप!
तुम कदाचित् न भी जानो—यह विदा है।

ओस-मधुकण: वस्त्र सारे सीझ कर श्लथ हो गए हैं।
रात के सहमे चिहुँकते बाल-खग अब निडर हो चुप हो गए हैं।
अटपटी लाली उषा की हुई प्रगल्भ, विभोर।
उमड़ती है लौ दिए की जा रहा है भोर।
ओ विहँसते रूप!
तुम कदाचित् न भी जानो—यह विदा है।

दिसंबर, 1955

मुझे तीन दो शब्द

मुझे तीन दो शब्द कि मैं कविता कह पाऊँ।

एक शब्द वह जो न कभी जिह्वा पर लाऊँ,
और दूसरा : जिसे कह सकूँ
किंतु दर्द मेरे से जो ओछा पड़ता हो।
और तीसरा : खरा धातु, पर जिसको पा कर पूछूँ—
क्या न बिना इसके भी काम चलेगा? और मौन रह जाऊँ।

मुझे तीन दो शब्द कि मैं कविता कह पाऊँ।

रीवाँ, 21 फरवरी, 1955

महानगर : रात

धीरे धीरे धीरे चली जाएँगी सभी मोटरें, बुझ जाएँगी

सभी बत्तियाँ, छा जाएगा एक तनाव-भरा सन्नाटा
जो उसको अपने भारी बूटों से रौंद-रौंद चलनेवाले
वर्दीधारी का
प्यारा नहीं, किंतु वांछित है।

तब जो पत्थर-पिटी पटरियों पर इन
अपने पैर पटकता और घिसटता
टप्-थब्, टप्-थब् टप्-थब्
नामहीन आएगा—

तब जो ओट खड़ी खंभे के अँधियारे में चेहरे की मुर्दनी छिपाए
थकी उँगलियों से सूजी आँखों से रूखे बाल हटाती
लट की मैली झालर के पीछे से बोलेगी :
'दया कीजिए, जैंटिलमैन...'
और लगेगा झूठा जिसके स्वर का दर्द
क्योंकि अभ्यास नहीं है अभी उसे सच के अभिनय का,
तब जो ओंठों पर निर्बुद्धि हँसी चिपकाए
मानो सीलन से विवर्ण दीवार पर लगा किसी पुराने
कौतुक-नाटक का फटियल-सा इश्तहार हो,
कुत्तों के कौतूहल के प्रति उदासीन
उसके प्रति भी जिसको तुमने सन्नाटे की रक्षा पर तैनात किया है,
धुआँ-भरी आँखों से अपनी परछाईं तक बिन पहचाने,
तन्मय—हाँ, सस्ती शराब में तन्मय—
चला जा रहा होगा धीरे धीरे धीरे—

बोलो, उसको देने को है
कोई उत्तर?
होगा?

होगा?

क्या? ये खेल-तमाशे, ये सिनेमाघर और थियेटर?
रंग-बिरंगी बिजली द्वारा किए प्रचारित
द्रव्य जिन्हें वह कभी नहीं जानेगा?
यह गलियों की नुक्कड़-नुक्कड़ पर पक्के पेशाबघरों की
सुविधा,
ये कचर-पेटियाँ सुघड़ (आह
कचरे के लिए यहाँ कितना आकर्षण!)?

असंदिग्ध ये सभी सभ्यता के लक्षण हैं
और सभ्यता बहुत बड़ी सुविधा है सभ्य, तुम्हारे लिए!
किंतु क्या जाने ठोकर खा कर कहीं रुके वह,
आँख उठा कर ताके और अचानक तुमको ले पहचान—
अचानक पूछे धीरे धीरे धीरे
'हाँ, पर मानव
तुम हो किसके लिए?

स्ट्रैटफ़र्ड। ऐवन, जून 1955

हवाई यात्रा : ऊँची उड़ान

यह ऊपर आकाश नहीं, है
रूपहीन आलोक मात्र। हम अचल-पंख तिरते जाते हैं
भार-मुक्त।
नीचे यह ताज़ी धुनी रूई की उजली बादल-सेज बिछी है
स्वप्न-मसृण : या यहाँ हमीं अपना सपना हैं?
लेकिन उतरो :

इस झीनी चादर में है जो घुटन, भेद कर आओ।
दीखीं क्या वे दूर लकीरें—धुंधली छायाएँ—कुछ काली, कुछ चमकीली
मुग्धकरी कुछ, कुछ जहरीली?
होती मूर्त महानगरी है : संसृति के अवतंस मनुज की कृति वह
अविश्राम उद्यम की कीर्तिपताका।

उतरो थोड़ा और :
घनी कुछ हो आने दो
रासायनिक धुंध के इस चीकट कंबल की नई घुटन को :
मानव का समूह-जीवन इस झिल्ली में ही पनप रहा है!
उतरो थोड़ा और : धरा पर
हाँ, वह देखा, लगते ही आघात ठोस धरती का
धमनी में भारी हो आया मानव-रक्त और कानों में
गूँजा सन्नाटा संसृति का!

उतरो थोड़ा और : साँस ले गहरी
अपने उड़नखटोले की खिड़की को खोलो और पैर रखो मिट्टी पर :
खड़ा मिलेगा वहाँ सामने तुमको
अनपेक्षित प्रतिरूप तुम्हारा
नर, जिसकी अनझिप आँखों में नारायण की व्यथा भरी है!

लंदन-पैरिस-विएना (विमान में), जून, 1955

सूर्यास्त

धूप
—माँ की हँसी के प्रतिबिंब-सी शिशु-वदन पर—

हुई भासित
नए चीड़ों से कँटीली पार की गिरि श्रृँखला पर :

गीति :
मन पर वेदना के बिना,
तर्कातीत, बस स्वीकार से ही सिहर कर
बोला :
'नहीं, फिर आना नहीं होगा।'

सिग्तुना, स्वीडन, 24 जून, 1955

पश्चिम के समूह-जन

एक मृषा जिसमें सब डूबे हुए हैं—
क्योंकि एक सत्य जिससे सब ऊबे हुए हैं।
एक तृषा जो मिट नहीं सकती इसलिए मरने नहीं देती;
एक गति जो विवश चलाती है इसलिए कुछ करने नहीं देती।
स्वातंत्र्य के नाम पर मारते हैं मरते हैं
क्योंकि स्वातंत्र्य से डरते हैं।

डार्टिंगटन हॉल, टॉटनेस, 18 अगस्त, 1955

जितना तुम्हारा सच है

(1)

कहा सागर ने : चुप रहो!
मैं अपनी अबाधता जैसे सहता हूँ, अपनी मर्यादा तुम सहो।

जिसे बाँध तुम नहीं सकते

उसमें अखिन्न मन बहो।
मौन भी अभिव्यंजना है: जितना तुम्हारा सच है उतना ही कहो।
कहा नदी ने भी : नहीं, मत बोलो,
तुम्हारी आँखों की ज्योति से अधिक है चौंध जिस रूप की
उसका अवगुंठन मत खोलो
दीठ से टोह कर नहीं, मन के उन्मेष से
उसे जानो : उसे पकड़ो मत, उसी के हो लो।
कहा आकाश ने भी : नहीं, शब्द मत चाहो
दाता की स्पर्द्धा हो जहाँ, मन होता है मँगते का।
दे सकते हैं वही जो चुप, झुक कर ले लेते हैं।
आकांक्षा इतनी है, साधना भी लाए हो?
तुम नहीं व्याप सकते, तुममें जो व्यापा है उसी को निबाहो

(2)

यही कहा पर्वत ने, यही घन-वन ने,
यही बोला झरना, यों कहा सुमन ने।
तितलियाँ, पतंगे, मोर और हिरने,
यही बोले सारस, ताल, खेत, कुएँ, झरने।
नगर के राज-पथ, चौबारे, अटारियाँ,
चीखती-चिल्लाती हुई दौड़ती जनाकुल गाड़ियाँ।
अग-जग एक मत! मैं भी सहमत हूँ।
मौन, नत हूँ।

तब कहता है फूल : अरे, तुम मेरे हो।
वन कहता है : वाह, तुम मेरे मित्र हो।
नदी का उलाहना है : मुझे भूल जाओगे?
और भीड़-भरे राज-पथ का : बड़े तुम विचित्र हो!
सभी के अस्पष्ट समवेत को

अर्थ देता कहता है नभ : मैंने प्राण तुम्हें दिए हैं,
आकार तुम्हें दिया हैं, स्वयं भले मैं शून्य हूँ।
हम सब सब-कुछ, अपना, तुम्हारा, दोनों दे रहे हैं तुमको
अनुक्षण;
अरे ओ क्षुद्र-मन!
और तुम हमको एक अपनी वाणी भी हो
सौंप नहीं सकते ?

सौंपता हूँ।

एडिनबरा-लंदन (रैल में), 28 अगस्त, 1955

कोई कहे या न कहे

यह व्यथा की बात कोई कहे या न कहे।
सपने अपने झर जाने दे, झुलसाती लू को आने दो
पर उस अक्षोभ्य तक केवल मलय समीर बहे।

यह विदा का गीत कोई सुने या न सुने।
मेरा पथ अगम अँधेरा हो, अनुभव का कटु फल मेरा हो
वह अक्षत केवल स्मृति के फूल चुने!

फिरेंज (इटली), दिसंबर, 1955

खुल गई नाव

खुल गई नाव
घिर आई संझा, सूरज डूबा सागर तीरे।
धुंधले पड़ते से जल-पंछी

भर धीरज से मूक लगे मँडराने,
सूना तारा उगा, चमक कर, साथी लगा बुलाने।
तब फिर सिहरी हवा, लहरियाँ काँपीं,
तब फिर मूर्छित व्यथा विदा की जागी धीरे-धीरे।
स्वेज-अदन (जहाज़ में), 5 फरवरी, 1956

तुम हँसी हो

तुम हँसी हो—जो न मेरे ओंठ पर दीखे,
मुझे हर मोड़ पर मिलती रही है।
धूप—मुझ पर जो न छाई हो,
किंतु जिसकी ओर
मेरे रुद्ध जीवन की कुटी की खिड़कियाँ खुलती रही हैं।

तुम दया हो जो मुझे विधि ने न दी हो,
किंतु मुझको दूसरों से बाँधती है
जो कि मेरी ही तरह इनसान हैं।
आँख जिनसे न भी मेरी मिले,
जिनको किंतु मेरी चेतना पहचानती है।

धैर्य हो तुम : जो नहीं प्रतिबिंब मेरे कर्म के धुंधले मुकुर में पा सका,
किंतु जो संघर्ष-रत मेरे प्रतिम का, मनुज का,
अनकहा पर एक धमनी में बहा संदेश मुझ तक ला सका,
व्यक्ति की इकली व्यथा के बीज को
जो लोक-मानस की सुविस्तृत भूमि में पनपा सका।

हँसी ओ उच्छल, दया ओ अनिमेष,
धैर्य ओ आच्युत, आप्त, अशेष।
जहाज़ 'आसिया' में (लालसागर), 6 फरवरी, 1956

ब्रह्म-मुहूर्त : स्वस्तिवाचन

जियो उस प्यार में
जो मैंने तुम्हें दिया है,
उस दुख में नहीं जिसे
बेझिझक मैंने पिया है।

उस गान में जियो
जो मैंने तुम्हें सुनाया है,
उस आह में नहीं जिसे
मैंने तुमसे छिपाया है।

उस द्वार से गुज़रो
जो मैंने तुम्हारे लिए खोला है,
उस अंधकार से नहीं
जिसकी गहराई को
बार-बार मैंने तुम्हारी रक्षा की
भावना से टटोला है।

वह छादन तुम्हारा घर हो
जिसे मैं असीसों से बुनता हूँ, बुनूँगा;
वे काँटे-गोखरू तो मेरे हैं
जिन्हें मैं राह से चुनता हूँ, चुनूँगा।

वह पथ तुम्हारा हो
जिसे मैं तुम्हारे हित बनाता हूँ, बनाता रहूँगा;
मैं जो रोड़ा हूँ, उसे हथौड़े से तोड़-तोड़
मैं जो कारीगर हूँ, करीने से

सँवारता-सजाता हूँ, सजाता रहूँगा।

सागर के किनारे तक
तुम्हें पहुँचाने का
उदार उद्यम ही मेरा हो :
फिर वहाँ जो लहर हो, तारा हो,
सोन-तरी हो, अरुण सवेरा हो,
वह सब, ओ मेरे वर्य!
तुम्हारा हो, तुम्हारा हो, तुम्हारा हो।

नई दिल्ली, 6 अप्रैल, 1957

हरा-भरा है देश

हरे-भरे हैं खेत
मगर खलिहान नहीं :
बहुत महतो का मान—
मगर दो मुट्ठी धान नहीं।
भरा है दिल
पर नीयत नहीं :

हरी है कोख—
तबीयत नहीं।

भरी हैं आँखें
पेट नहीं :
भरे हैं बनिए के काग़ज़—
टेंट नहीं।

हरा-भरा है देश :
रुँधा मिट्टी में ताप
पोसता है विष-वट का मूल—
फलेंगे जिसमें शाप।

मरा क्या और मरे
इसलिए अगर जिए तो क्याः
जिसे पीने को पानी नहीं
लहू का घूँट पिए तो क्या;

पकेगा फल, चखना होगा
उन्हीं को जो जीते हैं आज :
जिन्हे हैं बहुत शील का ज्ञान—
नहीं है लाज।

तपी मिट्टी जो सोख न ले
अरे, क्या है इतना पानी?
कि व्यर्थ है उद्बोधन, आह्वान—
व्यर्थ कवि की बानी?

कोणार्क-कटक, 15 अप्रैल, 1957

शब्द और सत्य

यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया था
यह नहीं कि मुझको शब्द अचानक कभी-कभी मिलता है :
दोनों जब-तब सम्मुख आते ही रहते हैं।
प्रश्न यही रहता है :

दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाए रहते हैं
मैं कब, कैसे, उनके अनदेखे
उसमें सेंध लगा दूँ
या भर कर विस्फोटक
उसे उड़ा दूँ?

कवि जो होंगे हों, जो कुछ करते हैं करें,
प्रयोजन मेरा बस इतना है :
ये दोनों जो
सदा एक-दूसरे से तन कर रहते हैं,
कब, कैसे, किस आलोक-स्फुरण में
इन्हें मिला दूँ—
दोनों जो हैं बंधु, सखा, चिर सहचर मेरे।
मोती बाग, नई दिल्ली, 15 जून, 1957

दीप पत्थर का

दीप पत्थर का
लजीली किरण की
पद-चाप नीरव :
अरी ओ करुणा प्रभामय!
कब? कब?
क्योतो, जापान 9 सितंबर, 1957

सोन-मछली

हम निहारते रूप,
काँच के पीछे

हाँफ रही है मछली।

रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

क्योतो, 10 सितंबर, 1957।

मैं देख रहा हूँ

मैं देख रहा हूँ
झरी फूल से पँखुरी
—मैं देख रहा हूँ अपने को ही झरते।

मैं चुप हूँ :
वह मेरे भीतर वसंत गाता है।

तोक्यो, 15 सितंबर, 1957

सम्राज्ञी का नैवेद्य-दान[1]

हे महाबुद्ध!
मैं मंदिर में आई हूँ
रीते हाथ :
फूल मैं ला न सकी।

औरों का संग्रह
तेरे योग्य न होता।

1. जापान की सम्राज्ञी कोमियो प्राचीन राजधानी नारा के बुद्ध-मंदिर में जाते समय असमंजस में पड़ गई थी कि चढ़ाने को क्या ले जाए और फिर रीते हाथ गई थी। यही घटना कविता का आधार है।

जो मुझे सुनाती
जीवन के विह्वल सुख-क्षण का गीत—
खोलती रूप-जगत् के द्वार जहाँ
तेरी करुणा
बुनती रहती है
भव के सपनों, क्षण के आनंदों के
रह:सूत्र अविराम—
उस भोली मुग्धा को
कँपती
डाली से विलगा न सकी।

जो कली खिलेगी जहाँ, खिली,
जो फूल जहाँ है,
जो भी सुख
जिस भी डाली पर
हुआ पल्लवित, पुलकित,
मैं उसे वहीं पर
अक्षत, अनाघ्रात, अस्पृष्ट, अनाविल
हे महाबुद्ध!
अर्पित करती हूँ तुझे।

वहीं-वहीं प्रत्येक भरे प्याला जीवन का,
वहीं-वहीं नैवेद्य चढ़ा
अपने सुंदर आनंद-निमिष का,
तेरा हो,
हे विगतागत के, वर्तमान के, पद्मकोश!
हे महाबुद्ध!
तोक्यो, 25 सितंबर, 1957

रूप केकी

रूप-केकी नाचते हैं,
सार-घन! बरसो।

बहुत विस्तृत, बहुत सूना
है गगन जिसको नहीं
उनकी पुकारें भर सकेंगी,

बहुत है गरिमा धरा की
नहीं उसके कर्ष-बल से आत्म विभोर भी
उनकी उड़ान उबर सकेगी।

तुम्हीं अपनी दामिनी मायाविनी की
लेखनी अमरत्वदायिनि से
उन्हें परसो।
सार-घन! सरसो।

रूप-केकी नाचते हैं,
सार-घन ! बरसो।

क्योतो-ओसाका (रेल में), 16 दिसंबर, 1957

लौटे यात्री का वक्तव्य

सभी जगह
जो उपजाता है अन्न, पालता सब को,
उसकी झुकी कमर है।

सभी जगह
जो शास्ता है, जो बागडोर थामे है, उसकी दीठ मंद है—
आँखों पर है चढ़ा हुआ मोटा चश्मा जो
प्रायः धूमिल भी होता है।

सभी जगह
जिसकी मुट्ठी में ताक़त है
उसका भेजा है एक ओर भेड़िये,
दूसरी पर मर्कट का।

सभी जगह
जो रंग-बिरंगी जाज़म पर फैला कर सपनों की मनियारी
घात लगाते हैं गाहक की,
दिल मुर्गी का रखते हैं।
सभी जगह
जो मूल्यवान् है सकुचा रहता है; अदृश्य, सीपी के मोती-सा,
जो मिलता नहीं बिना सागर में डूबे :

सभी जगह
जो छिछला है, ओछा है,
नकली कीमखाब पर सज़ा हुआ बैठा है लकदक,
चौंधाता आँखों को, जब तक ठोकर लगे, पैर रपटे
या जेब कटे, नीयत बिगड़े, हो मतिभ्रंश, दिल डँसा जाए!

सभी जगह
है प्रश्न एक :
क्या दोगे? कितना दे सकते हो?

यही पूछते हैं जो फिर भेदक आँखों से

लेते हैं टटोल अंटी में क्या है :
यही दूसरे पूछ, नाप लेते हैं कितना
लहू देह में बाक़ी होगा :
यही तीसरे, आँक रहे जो
मांसपेशियों में कितना है श्रम-बल—
(बिना छुए या टोए जैसे चूज़े को गाहक टोता है।)

यही और, जो तिनकों को सिखलाते
बँधी हुई गड्डी की ताकत, किंतु बाँधनेवाला तार
सदा अपनी मुट्ठी में रखते हैं :
यही और, जिनकी लोलुपता
देने का आमंत्रण सब को देती है,
क्योंकि सिवा इस देने के बस उन को लेना ही लेना है।

और यही वे भी, जिनकी जिज्ञासा—
कभी नहीं होती रूपायित, मुखरित
जो अनासक्त हैं, जिन्हें स्वयं कुछ नहीं किसी से लेना है :
क्या दोगे? कितना दोगे—दे सकते हो—
मुझे नहीं, जग भर को, जीवन-भर को,
प्यार?

हिरोशिमा, 18 दिसंबर, 1957

सागर पर भोर

बहुत बड़ा है यह सागर का सूना
बहुत बड़ा यह ऊपर छाया औंधा खोखल।
असमंजस के एक और दिन पर, ओ सूरज,

क्यों, क्यों, क्यों यह तुम उग आए?
आटाभी (जापान), 21 दिसंबर, 1957

हवाई अड्डे पर विदा

उड़ गया गरज़ता यंत्र-गरुड
बन बिंदु, शून्य में पिघल गया।

पर साँप? लोटता डसता छोड़ गया वह उसे यहीं पर।

आँखों के आगे धीरे-धीरे सब धुंधला होता आता है—
मैदान, पेड़, गिरि, घर, जन-संकुल।
हांग कांग, 25 जनवरी, 1958

मैंने देखा, एक बूँद

मैंने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से :
रंग गई क्षण-भर
ढलते सूरज की आग से।

मुझको दीख गया :
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग़ से!
नई दिल्ली, 5 मार्च, 1958

चिड़िया की कहानी

उड़ गई चिड़िया
काँपी, फिर
थिर
हो गई पत्ती।

नई दिल्ली, 1958

धूप

सूप-सूप भर
धूप-कनक
यह सूने नभ में गई बिखर :
चौंधाया
बीन रहा है
उसे अकेला एक कुरर।

अल्मोड़ा, 5 जून, 1958

बाँगर और खादर

बाँगर में
राजाजी का बाग़ है,
चारों ओर दीवार है
जिसमें एक द्वार है,
बीच-बाग़ कुआँ है
बहुत-बहुत गहरा।

और उसका जल
मीठा, निर्मल, शीतल।
कुएँ तो राजाजी के और भी हैं
—एक चौगान में, एक बाज़ार में—
पर इस पर रहता है पहरा।

खादर में
राजाजी के पुरवे हैं,
मिट्टी के घरवे हैं,
आगे खुली रेती के पार
सदानीरा नदी है।
गाँवों के गँवार
उसी में नहाते हैं,
कपड़े फींचते हैं,
आचमन करते हैं,
डाँगर भँसाते हैं,
उसी से पानी उलीच
पहलेज सींचते हैं,
और जो मर जाएँ उनकी मिट्टी भी
वहीं होनी बदी है।

कुएँ का पानी
राजाजी मँगाते हैं,
शौक़ से पीते हैं।
नदी पर लोग सब जाते हैं,
उसके किनारे मरते हैं
उसके सहारे जीते हैं।

बाँगर का कुआँ

राजाजी का अपना है,
लोक-जन के लिए एक
कहानी है, सपना है।

खादर की नदी नहीं
किसी की बपौती की,
पुरवे के हर घरवे को
गंगा है अपनी कठौती की।

नई दिल्ली, 9 दिसंबर, 1958

हिरोशिमा

एक दिन सहसा
सूरज निकला
अरे क्षितिज पर नहीं,
नगर के चौक :
धूप बरसी
पर अंतरिक्ष से नहीं,
फटी मिट्टी से।

छायाएँ मानव-जन की
दिशाहीन
सब ओर पड़ीं—वह सूरज
नहीं उगा था पूरब में, वह
बरसा सहसा
बीचों-बीच नगर के :
काल-सूर्य के रथ के

पहियों के ज्यों अरे टूट कर
बिखर गए हों
दसों दिशा में।

कुछ क्षण का वह उदय-अस्त!
केवल एक प्रज्वलित क्षण की
दृश्य सोख लेनेवाली दोपहरी।
फिर?
छायाएँ मानव-जन की
नहीं मिटीं लंबी हो-होकर :
मानव ही सब भाप हो गए।
छायाएँ तो अभी लिखी हैं
झुलसे हुए पत्थरों पर
उजड़ी सड़कों की गच पर।

मानव का रचा हुआ सूरज
मानव को भाप बना कर सोख गया।
पत्थर पर लिखी हुई यह
जली हुई छाया
मानव की साखी है।

दिल्ली-इलाहाबाद-कोलकाता (रेल में),
10-12 जनवरी, 1959

सरस्वती-पुत्र

मंदिर के भीतर वे सब धुले-पुँछे उघड़े-अवलिप्त,
खुले गले से

मुखर स्वरों में
अति-प्रगल्भ
गाते जाते थे राम-नाम।
भीतर सब गूँगे, बहरे, अर्थहीन अल्पक,
निर्बोध, अयाने, नाटे,
पर बाहर जितने बच्चे उतने ही बड़बोले।

बाहर वह
खोया-पाया, मैला-उजला
दिन-दिन होता जाता वयस्क,
दिन-दिन धुंधलाती आँखों से
सुस्पष्ट देखता जाता था;
पहचान रहा था रूप,
पा रहा वाणी और बूझता शब्द,
पर दिन-दिन अधिकाधिक हकलाता था :
दिन-दिन पर उसकी घिग्घी बँधती जाती थी।

देहरादून, 19 अगस्त, 1959

भीतर जागा दाता

मतिथाया
सागर लहराया।
तरंग की पंखयुक्त वीणा पर
पवन ने भर उमंग से गाया।
फेन-झालरदार मखमली चादर पर मचलती
किरण-अप्सराएँ भारहीन पैरों से थिरकीं—
जल पर आलते की छाप छोड़ पल-पल बदलती।

दूर धुंधला किनारा
झूम-झूम आया, डगमगाया किया।
मेरे भीतर जागा
दाता :
बोला :
लो, यह सागर मैंने तुम्हें दिया।
हरियाली बिछ गई तराई पर,
घाटी की पगडंडी
लजाई और ओट हुई—
पर चंचला रह न सकी, फिर उझकी और झाँक गई।
छरहरे पेड़ की नई रंगीली फुनगी
आकाश के भाल पर जय-तिलक आँक गई।
गेहूँ की हरी बालियों में से
कभी राई की उजली, कभी सरसों की पीली फूल-ज्योत्स्ना दिप गई,
कभी लाली पोस्ते की सहसा चौंका गई—
कभी लघु नीलिमा तीसी की चमकी और छिप गई।
मेरे भीतर फिर जागा
दाता :
और मैंने फिर नीरव संकल्प किया:
लो, यह हरी-भरी धरती—यह सवत्सा कामधेनु—मैंने तुम्हें दी :
आकाश भी तुम्हें दिया :
यह बौर, यह अंकुर, ये रंग, ये फूल, ये कोंपलें,
ये दूधिया कनी से भरी बालियाँ,
ये मैंने तुम्हें दीं :
आँकी-बाँकी रेखा यह,
मेड़ों पर छाग-छौने ये किलोलते,
यह तलैया, गलियारा यह,

सारसों के जोड़े, मौन खड़े पर तोलते—
यह रूप केवल मैंने देखा,
यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैंने जिया,
सब तुम्हें दिया।

एक स्मृति से मन पूत हो आया।
एक श्रद्धा से आहूत प्राणों ने गाया।
एक प्यार का ज्वार दुर्निवार बढ़ आया।
मैं डूबा नहीं, उमड़ा-उतराया,
फिर भीतर
दाता खिल आया।
हँसा, हँस कर तुम्हें बुलाया।
लो, यह स्मृति, यह श्रद्धा, यह हँसी,
यह आहूत, स्पर्श-पूत भाव
यह मैं, यह तुम, यह खिलना,
यह ज्वार, यह प्लवन,
यह प्यार, यह अडूब उमड़ना—
सब तुम्हें दिया।
सब
तुम्हें
दिया।

सागरपोत स्ट्रैथेयर्ड पर पोर्ट सहद—मार्सेल

29 अप्रैल, 1960

चक्रांत शिला—1

यह महाशून्य का शिविर,
असीम, छा रहा ऊपर :

नीचे यह महामौन की सरिता
दिग्विहीन बहती है।

यह बीच-अधर, मन रहा टटोल
प्रतीकों की परिभाषा
आत्मा में जो अपने ही से
खुलती रहती है।

रूपों में एक अरूप सदा खिलता है,
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
अनुभव में एक अतींद्रिय,
पुरुषों के हर वैभव में ओझल
अपौरुषेय मिलता है।

मैं एक, शिविर का प्रहरी, भोर जगा
अपने को मौन नदी के खड़ा किनारे पाता हूँ :
मैं, मौन-मुखर, सब छंदों में
उस एक अनिर्वच, छंद-मुक्त को
गाता हूँ।

पिएर क्वि वी'र, 29 मई, 1960

चक्रांत शिला—10

धुंध से ढँकी हुई
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी
कितनी लघु अंजली हमारी।

कुहरे में जहाँ-तहाँ लहराती-सी कोई

छाया जब-तब दिख जाती है,
उत्कंठा की ओक वही द्रव भर ओंठों तक लाती है—
बिजली की जलती रेखा-सी
कंठ चीरती छाती तक खिंच जाती है।
फिर और प्यास तरसाती है,
फिर दीठ
धुंध में फाँक खोजने को टकटकी लगाती है।
आतुरता हमें भुलाती है
कितनी लघु अंजली हमारी,
कितनी गहरी यह धुंध-ढँकी वापिका तुम्हारी।
फिर भरते हैं ओक,
लहर का वृत्त फैल कर हो जाता है ओझल,
इसी भाँति युग-कल्प शिलित कर गए हमारे पल-पल
—वापी को जो धुंध ढँके है, छा लेती है
गिर- गह्वर भी अविरल।
किंतु एक दिन खुल जाएगा।
स्फटिक-मुकुर-सा निर्मल वापी का तल,
आशा का आग्रह हमें किए है बेकल—
धुंध-ढँकी
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी,
कितनी लघु अंजली हमारी।

किंतु नहीं क्या यही धुंध है सदावर्त्त
जिसमें नीरंध्र तुम्हारी करुणा
बँटती रहती है दिन-याम?
कभी झाँक जानेवाली छाया ही
अंतिम भाषा-संभव-नाम?
करुणा धाम!

बीज-मंत्र यह, सार-सूत्र यह, गहराई का एक यही परिमाण,
हमारा यही प्रणाम!

धुंध ढँकी
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी—
लघु अंजली हमारी।
पिएर क्वि वी 'र (फ्रांस),
28 मई, 1960

चक्रांत शिला—16

मैं कवि हूँ
द्रष्टा, उन्मेष्टा,
संधाता,
अर्थवाह,
मैं कृतव्यय।

मैं सच लिखता हूँ :
लिख-लिख कर सब
झूठा करता जाता हूँ।

तू काव्य :
सदा-वेष्टित यथार्थ
चिर-तनित,
भारहीन, गुरु,
अव्यय।

तू छलता है

पर हर छल में
तू और विशद, अभ्रांत,
अनूठा होता जाता है।
इलाहाबाद, 8 जनवरी, 1961

चक्रांत शिला—24

उसी एकांत में घर दो
जहाँ पर सभी आवें :
वही एकांत सच्चा है
जिसे सब छू सकें।
मुझको यही वर दो
उसी एकांत में घर दो
कि जिसमें सभी आवें—
—मैं न आऊँ।
नहीं मैं छू भी सकूँ जिसको
मुझे ही जो छुए, घेरे, समो ले।
क्योंकि जो मुझसे छुआ जा सका—
मेरे स्पर्श से चटका—
नहीं है आसरा, वह छत्र कच्चा है :
वही एकांत सच्चा है
जिसे छूने मैं चलूँ तो मैं पलट कर टूट जाऊँ।
लौट कर फिर वहीं आऊँ
किंतु पाऊँ
जो उसे छू रहा है वह मैं नहीं हूँ :
सभी हैं वे। सभी : वह भी जो कि इसका बोध
मुझ तक ला सका।

उसी एकांत में घर दो—
यही वर दो।
दिल्ली-देहरादून, अक्तूबर, 1960

चक्रांत शिला—26

आँगन के पार
द्वार खुले
द्वार के पार आँगन।
भवन के ओर-छोर
सभी मिले—
उन्हीं में कहीं खो गया भवन।

कौन द्वारी
कौन आगारी, न जाने,
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार-बार पा-लागन।
नई दिल्ली, 7 जुलाई, 1961

चक्रांत शिला—27

दूज का चाँद—

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मंदिर के विस्तृत आँगन में
सहमा-सा रख दिया गया।
नई दिल्ली, 19 फरवरी, 1962

निरस्त्र

कुहरा था,
सागर पर सन्नाटा था :
पंछी चुप थे।
महाराशि से कटा हुआ
थोड़ा-सा जल
बंदी हो
चट्टानों के बीच एक गढ़िया में
निश्चल था—
पारदर्श।

प्रस्तर-चुंबी
बहुरंगी
उद्‌भिज-समूह के बीच
मुझे सहसा दीखा
केंकड़ा एक :
आँखें ठंडी
निष्प्रभ
निष्कौतूहल
निर्निमेष

जाने
मुझमें कौतुक जागा
या उस प्रसृत सन्नाटे में
अपना रहस्य यों खोल
आँख-भर तक लेने का साहस;
मैंने पूछा : क्यों जी,
यदि मैं तुम्हें बता दूँ

मैं करता हूँ प्यार किसी को—
तो चौंकोगे?
ये ठंडी आँखें झपकेंगी
औचक?
उस उदासीन ने
सुना नहीं :
आँखों में
वही बुझा सूनापन जमा रहा।
ठंडे नीले लोहू में
दौड़ी नहीं
सनसनी कोई।

पर अलक्ष्य गति से वह
कोई लीक पकड़
धीरे-धीरे
पत्थर की ओट
किसी कोटर में
सरक गया

यों मैं
अपने रहस्य के साथ
रह गया
सन्नाटे से घिरा
अकेला
अप्रस्तुत
अपनी ही जिज्ञासा के सम्मुख निरस्त्र,
निष्कवच,
वध्य।

बर्कले (कैलिफोर्निया), अक्तूबर, 1962

एक दिन चुक जाएगी ही बात

बात है :
चुकती रहेगी
एक दिन चुक जाएगी ही—बात।
जब चुक चले तब
उस बिंदु पर
जो मैं बचूँ
(मैं बचूँगा ही!)
उसको मैं कहूँ—
इस मोह में अब और कब तक रहूँ?

चुक रहा हूँ मैं।
स्वयं जब चुक चलूँ
तब भी बच रहे जो बात—
(बात ही तो रहेगी!)
उसी को कहूँ :
यह संभावना—
यह नियति—कवि की
सहूँ।
उतना भर कहूँ :
—इतना कर सकूँ
जब तक चुकूँ!

नई दिल्ली, दीवाली, 15 नवंबर, 1963

कि हम नहीं रहेंगे

हमने

शिखरों पर जो प्यार किया
घाटियों में उसे याद करते रहे!
फिर तलहटियों में पछताया किए
कि क्यों जीवन यों बरबाद करते रहे!

पर जिस दिन सहसा आ निकले
सागर के किनारे—
ज्वार की पहली ही उत्ताल तरंग के सहारे
पलक की झपक-भर में पहचाना
कि यह अपने को कर्त्ता जो माना—
यही तो प्रमाद करते रहे!

शिखर तो सभी अभी हैं,
घाटियों में हरियालियाँ छाई हैं;
तलहटियाँ तो और भी
नई बस्तियों में उभर आई हैं।

सभी कुछ तो बना है, रहेगा :
एक प्यार ही को क्या
नश्वर हम कहेंगे—
इसलिए कि हम नहीं रहेंगे?

नई दिल्ली, 16 दिसंबर, 1964

पेरियार[1]

बकरी के बच्चे की मिमियाहट पर तिरता
वह चंपे का फूल

---

1. केरल की एक नदी; इसी के किनारे कालडि में शंकराचार्य का जन्म हुआ था।

काँपता गिरता
पल-भर घिरता
है कगार की ओट
भँवर की किरण-गर्भ
कलसी में :
अर्द्धमंडली खींच
निकल कर बह जाता है।
और घाट की सँकरी सीढ़ी पर
घुटने पर टेक गगरिया
खड़ी बहुरिया
थिर पलकों को एकाएक झुका,
कर ओट भँवरती धूमिल बिजली को,
फिर उठा बोझ
चढ़ने लगती है।

ओ साँस! समय जो कुछ लावे
सब सह जाता है :
दिन, पल, छिन—
इनकी झाँझर में जीवन
कहा-अनकहा रह जाता है।
बहू हो गई ओझल :
नदी पार के दोपहरी सन्नाटे ने फिर
बढ़ कर इस कछार की कौली भर ली :
वेणी आँचल से रेती पर
झरती बूँदों की
लहर-डोर थामे, ओ मन!
तू बढ़ता कहाँ जाएगा?

कालडि (केरल), 30 दिसंबर, 1965

प्रार्थना का एक प्रकार

कितने पक्षियों की मिली-जुली चहचहाट में से
अलग गूँज जाती हुई एक पुकार :
मुखड़ों-मुखौटों की कितनी घनी भीड़ों में
सहसा उभर आता एक अलग चेहरा :
रूपों, वासनाओं, उमंगों, भावों, बेबसियों का
उमड़ता एक ज्वार
जिसमें निथरती है एक माँग, एक नाम—
क्या यह भी है
प्रार्थना का एक प्रकार?

नई दिल्ली, 5 जून, 1968

औपन्यासिक

मैंने कहा : अपनी मनःस्थिति
मैं बता नहीं सकता। पर अगर
अपने को उपन्यास का चरित्र बताता, तो इस समय अपने को
एक शराबखाने में दिखाता, अकेले बैठ कर
पीते हुए—इस कोशिश में कि सोचने की ताक़त
किसी तरह जड़ हो जाए।
कौन या कब अकेले बैठ कर शराब पीता है?
जो या जब अपने को अच्छा नहीं लगता—अपने को
सह नहीं सकता।

उसने कहा : हुँः, कोई बात है भला? शराबखाना भी
(यह नहीं कि मुझे इसका कोई तजुरबा है, पर)

कोई बैठने की जगह होगी—वह भी अकेले?
मैं वैसे में अपने पात्र को
नदी किनारे बैठाती—अकेले उदास बैठ कर कुढ़ने के लिए।

मैंने कहा : शराबखाना
न सही बैठने लायक जगह! पर अपने शहर में
ऐसा नदी का किनारा कहाँ मिलेगा जो
बैठने लायक हो—उदासी में अकेले
बैठ कर अपने पर कुढ़ने लायक?

उसने कहा : अब मैं क्या करूँ अगर अपनी नदी का
ऐसा हाल हो गया है? पर कहीं तो ऐसी नदी
ज़रूर होगी?

मैंने कहा : सो तो है—यानी होगी। तो मैं
अपने उपन्यास का शराबखाना
क्या तुम्हारे उपन्यास की नदी के किनारे
नहीं ले जा सकता?

उसने कहा : हुँः! वह कैसे हो सकता है?
मैंने कहा : ऐसा पूछती हो, तो तुम उपन्यासकार भी
कैसे बन सकती हो?
उसने कहा : न सही—हम नहीं बनते उपन्यासकार।
पर वैसी नदी होगी
तो तुम्हारे शराबखाने की ज़रूरत क्या होगी, और उसे
नदी के किनारे तुम ले जा कर ही क्या करोगे?

मैंने ज़िद करके कहा : ज़रूर ले जाऊँगा! अब देखो, मैं

उपन्यास ही लिखता हूँ और उसमें
नदी किनारे शराबखाना बनाता हूँ!

उसने भी ज़िद करके कहा : वह
बनेगा ही नहीं! और बन भी गया तो वहाँ तुम अकेले बैठ कर
शराब नहीं पी सकोगे!

मैंने कहा : क्यों नहीं? शराबखाने में अकेले
शराब पीने पर मनाही होगी?

उसने कहा : मेरी नदी के किनारे तुमको
अकेले बैठने कौन देगा, यह भी सोचा है?

तब मैंने कहा : नदी के किनारे तुम मुझे अकेला
नहीं होने दोगी, तो शराब पीना ही कोई
क्यों चाहेगा, यह भी कभी सोचा है?

इस पर हम दोनों हँस पड़े। वह
उपन्यासवाली नदी और कहीं हो-न-हो,
इस हँसी में सदा बहती है,
और वहाँ शराबखाने की कोई ज़रूरत नहीं है।
नई दिल्ली, अक्तूबर, 1968

मुझे आज हँसना चाहिए

एक दिन मैं
राह के किनारे मरा पड़ा पाया जाऊँगा

तब मुड़-मुड़ कर साधिकार लोग पूछेंगे :
हमें पहले क्यों नहीं बताया गया
कि इसमें जान है?
पर तब देर हो चुकी होगी।
तब मैं हँस न सकूँगा।
इस बात को लेकर
मुझे आज हँसना चाहिए।

इतिहास का काम
इतने से सध जाएगा कि
एक था जो—था,
अब नहीं है—पाया गया।
पर जो मैं जिया, जो मैं जिया,
जो रोया-हँसा
जो मैंने पाया, जो किया,
उसका क्या होगा?
उसके लिए भी है एक नाम :
'आया-गया'
इस नाम को लेकर
मुझे आज हँसना चाहिए।

मेरे जैसे करोड़ों हैं
जिनसे इतिहास का काम
इसी तरह सधता है :
कि थे—नहीं हैं।
उनका सुख-दुख, पाना-खोना
अर्थ नहीं रखता, केवल होना
—या अंततः न होना।

वे नहीं जानते इतिहास, या अर्थ;
वे हँसते हैं। और लेते हैं
भगवान का नाम।
इस बात को ले कर
मुझे आज हँसना चाहिए।

इसीलिए तो
जिनका इतिहास होता है
उनके देवता हँसते हुए नहीं होते :
कैसे हँस सकते ?
और जिनके देवता हँसते हुए होते हैं
उनका इतिहास नहीं होता :
कैसे हो सकता?
इसी बात को लेकर
मुझे आज हँसना चाहिए...

नई दिल्ली, अगस्त, 1969

शहतूत

वापी में तूने
कुचले हुए शहतूत क्यों फेंके, लड़की?
क्या तूने चुराए—
पराए शहतूत यहाँ खाए हैं?

क्यों नहीं बताती?
अच्छा, अगर नहीं भी खाए
तो आँख क्यों नहीं मिलाती?

और तूने यह गाल पर क्या लगाया?
ओह, तो क्या शहतूत इसीलिए चुराए—
सच नहीं खाए?

शहतूत तो ज़रूर चुराए, अब आँख न चुरा!
नहीं तो देख, शहतूत के रस की रंगत से
मेरे ओंठ सँवला जाएँगे
तो लोग चोरी मुझे लगाएँगे
और कहेंगे कि तुझे भी चोरी के गुर मैंने सिखाए हैं!
तब, लड़की, हम किसे क्या बताएँगे!
कैसे समझाएँगे?

अच्छा, आ, वापी की जगत पर बैठ कर यही सोचें।
लड़की, तू क्यों नहीं आती?

अक्तूबर, 1969

देलोस[1] से एक नाव

दाडिम की ओट हो जा, लड़की?
भोर-किरणों की ओट
देलोस की ओर से
एक नाव आ रही है!
क्या जाने, भोर-पंछियों के शोर के साथ

---

1. देलोस : एजियन सागर (पूर्वी भूमध्य सागर) के क़िवलदीस (साइक्लैंडीज़) द्वीप-समूह का सबसे छोटा द्वीप। अपोलो का जन्म यहीं हुआ था, यहीं उसकी पूजा का प्रधान केंद्र था।

खित्तारे के स्वर भी उमड़ते हुए आने लगें!
मैंने तो इसीलिए अंजीर की ओट ली है
और वंशी बजा रहा हूँ :
दाडिम की ओट हो जा, लड़की!
और सुन, तुझे बुला रहा हूँ!
अक्तूबर, 1969

देखता—अगर देखता

प्रेक्षागृह की मुँडेर पर बैठ मैंने
उसे बार रंगपीठ की ओर जाते हुए देखा था,
यद्यपि वह नटी नहीं थी,
और नाटक-मंडली अपना खेल दिखा कर
कब की चली जा चुकी थी :
मंडली के आर्फ़िउसकी वंशी
वहाँ फिर सुनाई नहीं देगी।

और अगर मैं घाटी के छोर पर बैठ कर देखता
तो मैं उसे बार-बार तलैटी की ओर जाते हुए देखा करता,
यद्यपि वह न सूरमा थी
न सेना की पिछलग्गू,
और वीरों की टोलियाँ कब की घाटी से उतरकर
खाड़ी के पार चली जा चुकी हैं :
जहाँ से लौटती हुई कारिंथोस के विजेता की हुँकार की गूँज
अब घाटी को नहीं थरथराएगी।

पर अगर मैं जालिपा के इस उजाड़ वन के किनारे बैठ

उसे ताका करता
जिसमें अब न पुजारियों की सीठी पदचाप है
न तीर्थयात्रियों की बेकल चहल-पहल,
तो इसकी बलखाती पगडंडियों पर
वह न दीखती :
और मैं जानता रहता कि वहाँ
और उससे आगे, अधिक घने कुंजों में
और उससे आगे, जहाँ छिपे सोते का पानी वापी में सँचता है—
सर्वत्र एक अँधियारा सन्नाटा है,
जालिपा की सैकड़ों वर्षों से मरोड़ी हुई डालें हैं
और मेरी एकटक आँखें जिनमें
उसकी अनुपस्थिति सनसनाती है?

अक्तूबर, 1969

नीमाड़ : चैत

(1)

पेड़ अपनी-अपनी छाया को
आतप से
ओट देते
चुपचाप खड़े हैं।

तपती हवा
उनके पत्ते झराती जाती है

(2)

छाया को

झरते पत्ते
नहीं ढँकते,
पत्तों को ही
छाया छा लेती है।

1970

देखिए न मेरी कारगुज़ारी

अब देखिए न मेरी कारगुज़ारी
कि मैं मँगनी के घोड़े पर
सवारी कर
ठाकुर साहब के लिए उनकी रियाया से लगान
और सेठ साहब के लिए पंसार-हट्टे की हर दूकान
से किराया
वसूल कर लाया हूँ

थैलीवाले को थैली
तोड़ेवाले को तोड़ा
—और घोड़ेवाले को घोड़ा।
सब को सब का लौटा दिया
अब मेरे पास यह घमंड है
कि सारा समाज मेरा एहसानमंद है।

हरा अंधकार

रूपाकार
सब अंधकार में हैं :

प्रकाश की सुरंग में
मैं उन्हें बेधता चला जाता हूँ,
उन्हें पकड़ नहीं पाता।

मेरी चेतना में इसकी पहचान है
कि अंधकार भी
एक चरम रूपाकार है,
सत्य का, यथार्थ का विस्तार है;
पर मेरे शब्द की इतनी समाई नहीं—
यह मेरी भाषा की हार है।

प्रकाश मेरे अग्रज़ों का है
कविता का है, परंपरा का है,
पोढ़ा है, खरा है :
अंधकार मेरा है,
कच्चा है, हरा है।

बर्मिंगहम-लंदन (रेल में), 14 नवंबर, 1970

नंदा देवी

ऊपर तुम, नंदा!

नीचे तरु-रेखा से
मिलती हरियाली पर
बिखरे रेवड़ को
दुलार से टेरती-सी
गड़रिए की बाँसुरी की तान :

और भी नीचे
कट गिरे वन की चिरी पट्टियों के बीच से
नए खनि-यंत्र की
भट्ठी से उठे धुएँ का फंदा।
नदी की घेरती-सी वत्सल कुहनी के मोड़ में
सिहरते-लहरते शिशु धान।

चलता ही जाता है यह
अंतहीन, अन-सुलझ
गोरख-धंधा!

दूर, ऊपर तुम, नंदा !

विनसर, सितंबर, 1972

नंदा देवी—3

तुम
वहाँ हो
मंदिर तुम्हारा
यहाँ है।
और हम—
हमारे हाथ, हमारी सुमिरनी—
यहाँ है—
और हमारा मन
वह कहाँ है?

नंदा देवी—6

नंदा,

बीस-तीस-पचास वर्षों में
तुम्हारी वन-राजियों की लुगदी बना कर
हम उस पर
अखबार छाप चुके होंगे :
तुम्हारे सन्नाटे को चींथ रहे होंगे
हमारे धुंधुआते शक्तिमान् ट्रक,
तुम्हारे झरने-सोते सूख चुके होंगे
और तुम्हारी नदियाँ
ला सकेंगी केवल शस्य-भक्षी बाढ़ें
या आँतों को उमेठनेवाली बीमारियाँ,
तुम्हारा आकाश हो चुका होगा
हमारे अतिस्वन विमानों के
धूम-सूत्रों का गुंझर।

नंदा,
जल्दी ही
बीस-तीस-पचास वर्षों में
हम तुम्हारे नीचे एक मरु बिछा चुके होंगे
और तुम्हारे उस नदी-धौत सीढ़ीवाले मंदिर में
जला करेगा
एक मरु-दीप!

नंदा देवी—8

यह भी तो एक सुख है
(अपने ढंग का क्रियाशील)
कि चुप निहारा करूँ

तुम्हें धीरे-धीरे खुलते!
तुम्हारी भुजा को बादलों के उबटन से
तुम्हारे बदन को हिम-नवनीत से
तुम्हारे विशद वक्ष को
धूप की धाराओं से धुलते!

यह भी तो एक योग है
कि मैं चुपचाप
सब कुछ भोगता हूँ
पाता हूँ
सुखों को,
निसर्ग के अगोचर प्रसादों को,
गहरे आनंदों को
अपनाता हूँ;
पर सब कुछ को बाँहों में
समेटने के प्रयास में
स्वयं दे दिया जाता हूँ!

सितंबर, 1972

फूल की स्मरण-प्रतिमा

यह देने का अहंकार
छोड़ो।
कहीं है प्यार की पहचान
तो उसे यों कहो :
'मधुर, यह देखो
फूल। इसे तोड़ो;

घुमा-फिरा कर देखो,
फिर हाथ से गिर जाने दो :
हवा पर तिर जाने दो—
(हुआ करे सुनहली) धूल।'

फूल की स्मरण-प्रतिमा ही बचती है।
तुम नहीं। न तुम्हारा दान।
नई दिल्ली, नवंबर 1968

काल की गदा

काल की गदा
एक दिन
मुझ पर गिरेगी।

गदा
मुझे नहीं भाएगी :
पर उसके गिरने की नीरव छोटी-सी ध्वनि
क्या काल को सुहाएगी?
नई दिल्ली, नवंबर 1968

नाच

एक तनी हुई रस्सी है जिस पर मैं नाचता हूँ।
जिस तनी हुई रस्सी पर मैं नाचता हूँ
वह दो खंभों के बीच है।

रस्सी पर मैं जो नाचता हूँ
वह एक खंभे से दूसरे खंभे तक का नाच है।
दो खंभों के बीच जिस तनी हुई रस्सी पर मैं नाचता हूँ
उस पर तीखी रोशनी पड़ती है
जिसमें लोग मेरा नाच देखते हैं।
न मुझे देखते हैं जो नाचता है
न रस्सी को जिस पर मैं नाचता हूँ
न खंभों को जिस पर रस्सी तनी है
न रोशनी को ही जिसमें नाच दीखता है :
लोग सिर्फ़ नाच देखते हैं।
पर मैं जो नाचता हूँ
जो जिस रस्सी पर नाचता हूँ
जो जिन खंभों के बीच है
जिस पर जो रोशनी पड़ती है
उस रोशनी में उन खंभों के बीच उस रस्सी पर
असल में मैं नाचता नहीं हूँ।
मैं केवल उस खंभे से इस खंभे तक दौड़ता हूँ
कि इस या उस खंभे से रस्सी खोल दूँ
कि तनाव चुके और ढील में मुझे छुट्टी हो जाए—
पर तनाव ढीलता नहीं
और मैं इस खंभे से उस खंभे तक दौड़ता हूँ
पर तनाव वैसा बना ही रहता है
सब कुछ वैसा ही बना रहता है
और वही मेरा नाच है जिसे सब देखते हैं
मुझे नहीं
रस्सी को नहीं
खंभे नहीं
रोशनी नहीं

तनाव भी नहीं
देखते हैं—नाच!

मार्च, 1976

महावृक्ष के नीचे

(पहला वाचन)

जंगल में खड़े हो?
महारूख के बराबर
थोड़ी देर खड़े रहो
महारूख ले लेगा तुम्हारी नाप
लेने दो।
उसे वह देगा तुम्हारे मन पर छाप।
देने दो।

जंगल में चले हो?
चलो चलते रहो।
महारूख के साथ अपना नाता बदलते रहो।
उसका आयाम
उसका है, बहुत बड़ा है।
पर वह वहाँ खड़ा है।
और तुम चलते हो चलते हुए ही भले हो।

वह महारूख है
अकेला है, वन में है।
तुम महारूख के नीचे—
अकेले हो, वन तुममें है।

ग्रोस पेर्टहोल्ज़ (आस्ट्रिया), 15 मई, 1976

महावृक्ष के नीचे

(दूसरा वाचन)

वन में
महावृक्ष के नीचे खड़े
मैंने सुनी
अपने दिल की धड़कन।
फिर मैं चल पड़ा।
पेड़ वहीं
धारा की कोहनी से घिरा
रह गया खड़ा।

जीवन : वह धनी है, धुनी है
अपने अनुपात गढ़ता है।
हम : हमारे बीच जो गुनी है
उन्हें अर्थवती शोभा से मढ़ता है।
ग्रोस पेर्टहोल्ज़ (आस्ट्रिया), 15 मई, 1976

सभी से मैंने विदा ले ली

सभी से मैंने विदा ले ली :
घर से,
नदी के हरे कूल से,
इठलाती पगडंडी से
पीले वसंत के फूलों से
पुल के नीचे खेलती
डाल की छायाओं के जाल से।

सबसे मैंने विदा ले ली :
एक उसी के सामने
मुँह खोला भी, पर
बोल नहीं निकले।
हम
न घरों में मरते हैं न घाटों-अखियारों में
न नदी-नालों में
न झरते फूलों में
न लहराती छायाओं में
न डाल से छनती प्रकाश की सिहरनों में
इन सबसे बिछुड़ते हुए हम
उनमें बस जाते हैं।
और उनमें जीते रहते हैं
जैसे कि वे हममें रस जाते हैं
और हमें सहते हैं।

एक मानव ही—हर उसमें जिस पर हमें ममता होती है
हम लगातार मरते हैं,
हर वह लगातार
हममें मरता है,
उस दोहरे मरण की पहचान को ही
कभी विदा, कभी जीवन-व्यापार
और कभी प्यार
हम कहते हैं।

हाइडेलबर्ग, मई, 1976

जाड़ों में

लोग बहुत पास आ गए हैं।
पेड़ दूर हटते हुए
कुहासे में खो गए हैं
और पंछी (जो ऋत्विक् हैं)
चुप लगा गए हैं।
बर्लिन, जून, 1976

पत्ता एक झरा

सारे इस सुनहले चँदोवे से
पत्ता कुल एक झरा
पर उसी की अकिंचन
झरन के
हर कँपने में
मैं कितनी बार मरा!
बिनसर, 1978

मेरे देश की आँखें

नहीं, ये मेरे देश की आँखें नहीं हैं
पुते गालों के ऊपर
नकली भँवों के नीचे
छाया प्यार के छलावे बिछाती
मुकुर से उठाई हुई

मुस्कान मुस्कुराती
ये आँखें—
नहीं, ये मेरे देश की नहीं हैं...

तनाव से झुर्रियाँ पड़ी कोरों की दरार से
शरारे छोड़ती घृणा से सिकुड़ी पुतलियाँ—
नहीं, ये मेरे देश की आँखें नहीं हैं...
वन डालियों के बीच से
चौंकी अनपहचानी
कभी झाँकती हैं
वे आँखें,
मेरे देश की आँखें;
खेतों के पार
मेड़ की लीक धारे
क्षिति-रेखा को खोजती
सूनी कभी ताकती हैं
वे आँखें ...

उसने
झुकी कमर सीधी की
माथे से पसीना पोंछा
डलिया हाथ से छोड़ी
और उड़ी धूल के बादल के
बीच में से झलमलाते
जाड़ों की अमावस में से
मैले चाँद-चेहरे सकुचाते
में टँकी थकी पलकें
उठाईं—

और कितने काल–सागरों के पार तैर आईं
मेरे देश की आँखें ...

पुरी–कोणार्क, 2 जनवरी, 1980

मैंने पूछा क्या कर रही हो

मैंने पूछा
यह क्या बना रही हो?
उसने आँखों से कहा
धुआँ पोंछते हुए कहा :
मुझे क्या बनाना है! सब–कुछ
अपने–आप बनता है
मैंने तो यही जाना है।
कह लो मुझे भगवान ने यही दिया है।

मेरी सहानुभूति में हठ था :
मैंने कहा : कुछ तो बना रही हो
या जाने दो, न सही—
बना नहीं रही—
क्या कर रही हो?
वह बोली : देख तो रहे हो
छीलती हूँ
नमक छिड़कती हूँ
मसलती हूँ
निचोड़ती हूँ
कोड़ती हूँ
कसती हूँ

फोड़ती हूँ
फेंटती हूँ
महीन बिनारती हूँ
मसालों से सँवारती हूँ
देगची में पलटती हूँ
बना कुछ नहीं रही
बनता जो है—यही सही है—
अपने-आप बनता है
पर जो कर रही हूँ—
एक भारी पेंदे
मगर छोटे मुँह की
देगची में सब कुछ झोंक रही हूँ
दबा कर अँटा रही हूँ
सीझने दे रही हूँ।
मैं कुछ करती भी नहीं—
मैं काम सलटती हूँ।

मैं जो परोसूँगी
जिनके आगे परोसूँगी
उन्हें क्या पता है
कि मैंने अपने साथ क्या किया है?

नई दिल्ली, मार्च, 1980

घर

(1)

मेरा घर
दो दरवाज़ों को जोड़ता

एक घेरा है
मेरा घर
दो दरवाज़ों के बीच है
उसमें
किधर से भी झाँको
तुम दरवाज़े से बाहर देख रहे होगे
तुम्हें पार का दृश्य दीख जाएगा
घर नहीं दीखेगा।

मैं ही मेरा घर हूँ।
मेरे घर में कोई नहीं रहता
मैं भी क्या
मेरे घर में रहता हूँ?
मेरे घर में
जिधर से भी झाँको....

(2)
तुम्हारा घर
वहाँ है
जहाँ सड़क समाप्त होती है
पर मुझे जब
सड़क पर चलते ही जाना है
तब वह समाप्त कहाँ होती है?
तुम्हारा घर...

(3)
दूसरों के घर
भीतर की ओर खुलते हैं

रहस्यों की ओर
जिन रहस्यों को वे खोलते नहीं।
शहरों में होते हैं
दूसरों के घर
दूसरों के घरों में
दूसरों के घर
दूसरों के घर हैं।

(4)
घर
है कहाँ जिनकी हम बात करते हैं
घर की बातें
सबकी अपनी हैं
घर की बातें
कोई किसी से नहीं करता
जिनकी बातें होती हैं
वे घर नहीं हैं।

(5)
घर
मेरा कोई है नहीं
घर मुझे चाहिए :
घर के भीतर प्रकाश हो
इसकी भी मुझे चिंता नहीं है;
प्रकाश के घेरे के भीतर मेरा घर हो—
इसी की मुझे तलाश है।
ऐसा कोई घर आपने देखा है?
देखा हो

तो मुझे भी उसका पता दें
न देखा हो
तो मैं आपको भी
सहानुभूति तो दे ही सकता हूँ
मानव होकर भी हम–आप
अब ऐसे घरों में नहीं रह सकते
जो प्रकाश के घेरे में हैं
पर हम
बेघरों की परस्पर हमदर्दी के
घेरे में तो रह ही सकते हैं!

नदी की बाँक पर छाया

नदी की बाँक पर
छाया
सरकती है
कहीं भीतर
पुरानी भीत
धीरज की
दरकती है
कहीं फिर वध्य होता हूँ...

दर्द से कोई
नहीं है ओट
जीवन को
व्यर्थ है यों
बाँधना मन को

पुरानी लेखनी
जो आँकती है
आँक जाने दो
किन्हीं सूने पपोटों को
अँधेरे विवर में
चुप झाँक जाने दो।
पढ़ी जाती नहीं लिपि
दर्द ही
फिर–फिर उमड़ता है।
अँधेरे में बाढ़
लेती
मुझे घेरे में

दिया तुमको गया
मेरी ही इयत्ता से
बनी ओ घनी छाया
दर्द फिर मुझको
अकेला
यहाँ लाया—

नदी की बाँक पर
छाया....

कदंब-कालिंदी

(पहला वाचन)
टेर-वंशी की
यमुना के पार

अपने-आप झुक आई
कदम की डार।
द्वार पर भर, गहर,
ठिठकी राधिका के नैन
झरे कँप कर
दो चमकते फूल।
फिर वही सूना अँधेरा
कदम सहमा
घुप कालिंदी कूल!

(दूसरा वाचन)
अलस कालिंदी-कि काँपी
टेर वंशी की
नदी के पार।
कौन दूभर भार
अपने-आप
झुक आई कदम की डार
धरा पर बरबस झरे दो फूल।

द्वार थोड़ा हिले—
झरे, झपके राधिका के नैन
अलक्षित टूट कर
दो गिरे तारक बूँद।
फिर—उसी बहती नदी का
वही सूना कूल!—
पार—धीरज-भरी
फिर वह रही वंशी टेर!

अलाव

माघ : कोहरे में अंगार की सुलगन
अलाव के ताव के घेरे के पार
सियार की आँखों की जलन
सन्नाटे में जब-तब चिनगी की चटकन
सब मुझे याद है : मैं थकता हूँ
पर चुकती नहीं मेरे भीतर की भटकन!

सारस अकेले

घिर रही है साँझ
हो रहा है समय
घर कर ले उदासी।
तौल अपने पंख, सारस दूर के
इस देश में तू है प्रवासी।

रात! तारे हों-न-हों
रवहीनता को सघनतर कर दे अँधेरा
तू अदीन ! लिए हिये में
चित्र ज्योति-प्रदेश का
करना जहाँ तुझ को सवेरा।

थिर गई जो लहर, वह सो जाए
तीर-तरु का बिंब भी अव्यक्त में खो जाए
मेघ, मरु, मारुत, मरण—अब आए जो सो आए!

कर नमन बीते दिवस को, धीर!
दे उसी को सौंप
यह अवसाद का लघु पल
निकल चल! सारस अकेले!

कौन खोले द्वार

सच-मुच के आए को
कौन खोले द्वार!
हाथ अवश
नैन मुँदे
हिये दिए
पाँवड़े पसार!
कौन खोले द्वार!

तुम्हीं लो स्नहास खोल
तुम्हारे दो अनबोल बोल
गूँज उठें थर-थर अंतर में
सहमे साँस
लुटे सब, घाट-बाट,
देह-गेह
चौखटे-किवार।
मीरा सौ बार बिकी है
गिरिधर! बेमोल!
सच-मुच के आए को
कौन खोले द्वार!

बोलो चिड़िया

चिड़िया को
जितने भी नाम दिए थे
सब झूठे पड़ गए
स्वयं जब बोली चिड़िया
नहीं कहा कुछ मैंने :
ताका किया उसे
चुप
चिड़िया ने भी नहीं कहा चिड़िया
केवल बोली रही
अप्रतिम
गुणातीत
आप्लवनकरी

बोलो, बोलो, बोलो,
चिड़िया
भरो जगत् को
एक बार फिर डूब चलूँ मैं
डूब चलूँ पर डूबूँ नहीं
रहूँ सुनता
सुनने में रहूँ अनश्वर
बोलो चिड़िया
बोलो, बोलो, बोलो!

ना जाने केहि भेस

खेतों में
मद और मूसलों की
दोहरी मार से त्रस्त-ध्वस्त
बिछे थे यादव-वीर।
सूर्य अस्त, चंद्र अस्त,
वनों के महावृक्षों के बीच बढ़ा
—गुफ़ा में फैलते सीरे-सा!—
पसरा था अंधकार!

और मैं था कि सजग, सावधान,
सधे पाँव, तान धनुष, वाण चढ़ा
खोजता था मृग कृष्णसार!

सुना तभी स्वर
शर संधान कर
छोड़ दिया वाण!
लक्ष्य-सिद्ध !

यों मुझे मिले वह
खुला गिरा मोर-पंख का किरीट,
वैजयंती-माल ध्वस्त,
छूटी पड़ी बाँसुरी,
मलिनाते पैरों के सूक्ष्म घाव से निकल रेंग रहा
सृपी शुभ्र, आयु-शेष :

आह, मुझे इस भेस मिले
नारायण :
मेरे ही वाण से विद्ध!

अप्रैल, 1976

देहरी

मेरी आँखों ने तुझे सहलाया है
जैसे शिशु अंगुलियाँ
हिलगे शशे को
कौतुक से

मेरे हाथ
तेरे साथ खेले हैं
जैसे पर्वती सोतों के
आलोक के बुलबुलों-बसे पानी से
रोमांचित होते

मेरे ओंठों ने
तुझे चूमा है
सिहरी श्रद्धा से

तेरी देह
देहरी है जिसके पार
एक समाधिस्थ सन्नाटा है

ओ मेरे देवदारु अशोक
मेरे ओंठ
मेरे हाथ
मेरी आँखें
और तू...

वासुदेव प्याला

यह वासुदेव प्याला
भरते ही कृष्ण का चरण-स्पर्श पा
रीत जाता है
और फिर भरता है
अनवरत :
इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।

आश्चर्य
यह है कि यह बाढ़
जिसके चरण छूती है
वह नहीं है डलिया में सोया
बाल-कृष्ण : वह छलिया
वह साँवलिया है जो
कालिय नाग के मणिपूर मस्तक पर
नाच रहा है।
उस नर्तमान चरण को छूता है जल
और उतर जाता है :

पानी उतर जाता है...

ओ रह : कृष्ण! तुम क्या
नाग के नथैया
और कालिंदी के कन्हैया हो
या कि नाग के ही बचैया—
कि वह बाढ़ भी क्या इसी में धन्य है
कि नाग ही तुम्हारा शरण्य है?

नई दिल्ली, 16 दिसंबर, 1980

जरा व्याध

मर्माहत ही मिले मुझे
फिर जालिक के ही पाश काट
पापी को करते पाप मुक्त
वह चले गए।
नर में ही बार-बार नारायण
मरते हैं। भरते हैं उसमें
व्यथा बोध, उसका ही काम अधूरा है।
नारायण? उनका तो खाता सदा शुद्ध है, पूरा है।
दे चुके कर्मफल मुक्ति, पाप से मुक्ति,
स्वयं वह मुक्त हुए।

नारायण ! नहीं! व्याध को ऐसे
मुक्तिबोध से मुक्त करो!

जिसने जीवन में एक लक्ष्य ही जाना—
शर-संधान अनवरत—
उसे संधानी ही रहने दो!
न दो क्षमा! उसके बंधन मत खोलो!
बँधा हुआ ही वह कितना समीप है,
कितना डूबा
साँई की छाया में!
रह-रह उठती है पुकार उसके भीतर से
शब्द हीन :
'नारायण! नर के नारायण हे!'
मर्माहत ही मिले मुझे वह
मै भी मर्म विद्ध
यों बँधा रहूँ
कल्पांतरतर-कल्पांत
पुकारा करूँ
नाम :
नारायण हे!

बिनसर, 11 जून, 1981

जरा-व्याध—2

क्या यही है पुरुष की नियति
कि बार-बार लोभ-वश
—किंतु जो जीवन-कर्म है (जो नियति है!)
उसे कैसे माना जाए लोभ?—

जाना मृग की टोह में
और मर्माहत कर आना
युग-युग के मृगांक को!

कौन शरविद्ध हुआ, कृष्ण?
तुम, मेरे नारायण, कि मैं,
नियति का अभागा आखेट, अहेरी मैं!

नहीं, नहीं, नहीं सहा जाता यह बोझ
क्षमा का! क्यों नहीं यह भी नियति है
कि व्याध का भी
तत्काल वध हो घातीवत्!
जरा तो देवघाती है!

कवि ने तो
पक्षीघाती को भी दे दिया था शाप तुरत,
मानव था कवि, करुण था, क्रोधी था;
और तुम, नारायण मेरे,
दाता, जिसे सारा जग वंदता है,
दे न सके अपनी अजस्र उदारता में मुझे
एक शाप तक!

यही है शाप क्या? कि अपराधी उपेक्षित हो,
दंड भी न पाए, पग-पग पर
रचे जाए अपने ही लिए आग तूस की
जला करे तिल-तिल—

किंतु देवता
तुमने तो क्षमा दी थी मुझे—यही क्या क्षमा है?

दिया है मैंने अपने को वन को
पंछियों को
मृगों को
उरगों, पतंगों को!
डँसें मुझे
मारें, नोचें,
फाड़कर भक्ष लें !
देखो, वनचारियो,
बंधुओ, निस्तारको,
मेरे मोक्षदो!
यही देवहंता जरा व्याध आज
वध्य है तुम्हारा।

नहीं, नहीं, नहीं!
मेरा एक ही शरण्य है!
वही जिसे मैंने शरविद्ध किया है!
कृष्ण, मैंने मारा नहीं तुम्हें, मैंने
अपने को बाँधा है तुम्हारे साथ—
और तुम मेरे साथ बँधे हो—
मेरे साथ! व्याध के!

यही क्या
नियति है?

अगस्त, 1981

देवासुर

(1)

ऋषियों की अस्थियों से भी
सुरगण केवल अस्त्र ही बना पाए
क्यों नहीं उनसे खाद बनी
जो अकाल अनावृष्टि में
रसा वसुंधरा को फलवती बनाए—
लोक-जन के काम आए?

(2)

असुर सदैव बली रहेंगे
क्योंकि सुर तो केवल
किसी के भरोसे हैं—
ऋत पर ही सही—निर्भर हैं।
और असुर
—दुरभि संधि में लगे सही—
निरंतर
कर्म-तत्पर हैं।

(3)

जिस ठंडे सीलन-भरे घेरे में
लोग ठिठुरते-मरते हैं
वह मंदिर की गीली छाँह का है
देवता के घर के कारण
देवता की धूप उन्हें कभी नहीं मिलती।

चीनी चाय पीते हुए

चाय पीते हुए
मैं अपने पिता के बारे में सोच रहा हूँ।

आपने कभी
चाय पीते हुए
पिता के बारे में सोचा है?

अच्छी बात नहीं है
पिताओं के बारे में सोचना।

अपनी कलई खुल जाती है।
हम कुछ दूसरे हो सकते थे।
पर सोच की कठिनाई यह है कि दिखा देता है
कि हम कुछ दूसरे हुए होते
तो पिता के अधिक निकट हुए होते
अधिक उन जैसे हुए होते।

कितनी दूर जाना होता है पिता से
पिता जैसा होने के लिए!
पिता भी
सवेरे चाय पीते थे
क्या वह भी
पिता के बारे में सोचते थे—
निकट या दूर?

छंद

मैं सभी ओर से खुला हूँ
वन-सा, वन-सा अपने में बंद हूँ
शब्द में मेरी समाई नहीं होगी
मैं सन्नाटे का छंद हूँ।

मरुथल : अंतिम कविताएँ

कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा
भानमती ने कुनबा जोड़ा
कुनबे ने भानमती गढ़ी
रेशम से मांडी, सोने से मढ़ी
कवि ने कथा गढ़ी, लोक ने बाँची
कहो—भर तो झूठ, जाँचो तो साँची

7.11.86

दंत कथा

दाँतों में रह गई कथा
ज्यों प्राणों में व्यथा।
क्या स्रोत, कब कहाँ उद्गम
हम भूल गए पूछना
या हमसे उतना धीरज न बना

शब्दों को भी हमने
पूरा न मथा।
रत्नाकर था, पर
वहीं हलाहल भी तो था—
हम डरे रहे।

नहीं तो—आह!—अमृत
क्या वहाँ न था?

दीपावली, 1.11.86

1. मरुथल में चट्टान

चट्टान से टकरा कर
हवा
उसी के पैरों में लिख जाती है
लहरीले सौ-सौ रूप

और तुम्हारे रूप की चट्टान से
लहराता टकरा कर मैं?
अपने ही जीवन की बालू पर
अपनी साँसों से लिखा रह जाऊँगा।

1 अप्रैल, 1986

2. मरुथल : रात

रातों—रात

निकल जाते रहे हैं वे
नीरव और निश्छाय
(बीतती रही हैं शतियाँ)
और भोर होते-न-होते
धो जाती रही हैं हवाएँ
उनके पैरों की छाप।

कौन थे वे ? कहाँ जा रहे थे? क्या लिए हुए?
निश्चय ही हमारे ये सवाल
उनके नहीं थे—
न हमारे ये बिंब : उनके मन के दिक् चक्रवाल
(और उनके हवाल)
दूसरे ही रहे।

साँझ होते ही दौड़ते हैं रेती पर
पगलाए से पिपियाते हुए पंछी
उन गुज़रनेवालों के काफ़िलों से पहले।
दिन में वह नहीं दीखेंगे, पर उनके
पिपियाते सुरों की गूँज
सुनाई पड़ती रहेगी
रोज़-दर-रोज़-दर-रोज़
भरती हुई सोज
जोगियों के अलगोज़ों में
गुँजाती हुई
शतियों के पार
पागल प्रेमियों की भूली—अनभूली कहानियाँ :

रेत में मिटी नहीं केवल छायाएँ—
मिटी हैं कितनी राजकुमारियाँ, गडेरिनें, गोपियाँ,
कबीलाई रानियाँ!

फिर बहकी हवा :
बालू की झील में उठी लहर।
फिर मिट गई छाया कोई
ऊँट की, गड्डुर की, गडेरिन की, मालिन की, रानी की?
टूटा
नीरव एक तारा
टूटी
कड़ी मेरी अंतहीन कहानी की...
फिर पिपियाया वह अकुलाया परेवा,
फिर निकल चले वे
छाया न छोड़ते
रातों—रात...
वाल्मीकि नगर, अक्तूबर 24,1986

3. मरुथल में

वे (क्षुप) लोग भी हो सकते हैं
वे (चट्टानें) ऊँटों की कतार भी हो सकती हैं
वह (सिहरती हवा) पानी भी हो सकती है
मैं (मृग) मरीचिका भी हो सकता हूँ।
1 अप्रैल, 86

4.

देवता अब भी
जलहरी को घेरे बैठे हैं
पर जलहरी में पानी सूख गया है।

देवता भी धीरे-धीरे
सूख रहे हैं
उनका पानी
मर गया है।

यूप—यष्टियाँ
रेती में दबती जा रही हैं
रेत की चादर-ढँकी अर्थी में बँधे
महाकाल की छाती पर
काल चढ़ बैठा है।

मर रहे हैं नगर
नगरों में
मरु—थर
मरु थरों में

जलहरी में।

5.

तीन आँखों से देखता है वह सारा विश्व

एक से सिरजता, एक से पालता, एक से करता संहार।
तीन आँखों से देखता है वह सारी सृष्टि का व्यापार
एक में काम, एक में करुणा, एक में आग का पारावार।
तीन आँखों से देखता है वह विश्व
और जिधर देखता है उधर हो जाता है गर्म राख का ढेर ठंडी रेत का
विस्तार।

लोक का क्षय होता है
उसमें
और वह बढ़ता है
उसका क्षय होता है
उसमें
और वह बढ़ता है
अवतरता है
खो जाता है
उस मरु में
उसकी लीला
सृष्टि है
जो वह है।

कैसे करें हम
कि वह उतरे
उतर कर वही हो जो कि वह है?
अगर हम नहीं हो पाते वह
कि जो हमें होता है?
मरु में उसने रचा है—हमको

क्या हम उसमें रचेंगे—एक मरु?

तीन आँखों से देखता है वह—
हमको कि मरु को
हम वह हैं कि मरु हैं?

तीन आँखों से देखता है वह...
पशुपतिनाथ, काठमांडो, 7 मार्च 87

6.

बालू के घरौंदे बनाए हैं तीन बालकों ने
उन्हें नहीं पता कि इसी बालुका में
वे कण हैं
जिनके विकिरण से आरंभ होती है प्रक्रिया
संसार के सभी घरौंदों के विनाश की।

बालुका से खेलते हुए तीन बालक
सागर का स्वर (जल के कि रेत के?)

मानव ही
मानव की तीसरी आँख है
तुम्हारी आँखें क्यों बंद हैं, देवता?
बौद्धनाथ, काठमांडो 7, मार्च 87

7. मरुथल : बदली

घिर आई थी घटा
नहीं पर बरसी
चली गई।
आँखें तरसी थीं
भरी भी नहीं
छली गईं।

दमकी थी दामिनी
परेवे
चौंक फड़फड़ाए थे गोखों में
अब फिर चमक रही है रेत।
कोई नहीं
कि पंथ निहारे।

सूना है चौबारा।

8. मरु में लहर

रात की रौंदी हुई यह रेत
फूहड़,
भोर में किस लिखत से लहरा गई—
सुंदर, अछूती, छविमयी ?
फाल्गुन शुक्ला सप्तमी, 6 मार्च, 87

9. मरुथल

काल की रेती पर
हमारे पैरों के छापे?
हमीं तो हैं बिखरे बालू के कण
जिन पर लिखता बढ़ा जाता है काल
अपने पैरों के छापे—
सरल, गूढ,
अर्थ-भरे, नियति-गर्भ।

फाल्गुन शुक्ला सप्तमी, 6 मार्च, 87

10.

पग्गड़
गलमुच्छे
आँखों में बर्छियाँ
चमरौंधे से
अपने को रौंदता
चला जाता मरुथर
चुप-चाप।

दिल्ली, 28 अक्तूबर, 86

11.

कल
ये ढूह इधर को थे

ये बच्चे
खेल रहे थे वहाँ
ये बकरियाँ
उधर दूर
न जाने क्या सूँघ रही थीं बालू में—
और वहाँ आगे
मेंगनी से बनी लीक के अंत में—
वह चितकबरा छौना
गर्दन मोड़ कर उछला था
अचरज से भरा कि कैसे
उसकी एक ही कुलाँच में
सारा सैरा यों बदल गया!
क्या मरुथल ने भी कुलाँच भरी?

मरु—मारुत से पूछें?—जिसकी साँस का जादू
सब इधर-उधर कर गया—
हमारी आँखों में धूल झोंक कर?

पर कहाँ गए वे झोंपड़े
वे काँटों के बाड़े भी कहाँ गए?
बीत गई है आँधी
उमसाया सन्नाटा
सारे मरु पर छाया है।

अब
किससे क्या पूछें?

12.

यही वह गलियारा है
जहाँ राहें मिलती हैं
आँधियाँ/राहें मिटा जाती हैं
रेत की बहिया उन्हें फिर खोल जाती है
दूहों की ओट/दीख जाते हैं
दूर खजूर के पेड़
वहाँ चाहे जब/सब कुछ बदल जाता है :
यहाँ कभी/कुछ नहीं बदलता।

गलियारे में चालू है नाटक
एक हवा और झट
बदल जाता है पट
यह इधर—
रेत में आधा दबा यह पहिया
पड़ा वह अरा—
काला
इसी से मारा था कृष्ण ने कर्ण को?
इधर से गुज़रती रही हैं कँजरों की गाड़ियाँ...

वसीयत

मेरी छाती पर
हवाएँ लिख जाती हैं

महीन रेखाओं में
अपनी वसीयत
और फिर हवाओं के झोंके ही
वसीयतनामा उड़ा कर
कहीं और ले जाते हैं।

बहकी हवाओ ! वसीयत करने से पहले
हलफ़ उठाना पड़ता है
कि वसीयत करनेवाले के
होश-हवास दुरुस्त हैं :
और तुम्हें इसके लिए
गवाह कौन मिलेगा
मेरे ही सिवा?

क्या मेरी गवाही
तुम्हारी वसीयत से यादा टिकाऊ होगी?
वह उधर—
मँज कर उजली-छाई वे हड्डियाँ
ऊँटों की? इधर दूर हो गए थे काफिले
लादे हुए सोना/और पोस्त/और रेशम/और नमक
लाने को उधर से दासियाँ, घोड़े, और गंध द्रव्य, नमक हरामियाँ
यों होता है इतिहास का शोध—
यों इतिहासपुरुष/लेता है प्रतिशोध!

इतिहास :
एक निरंतर बदलता हुआ गलियारा

जहाँ राहें मिलती हैं/और खो जाती हैं,
और फिर अपने को पा जाता है/मरु में

टीप में मिली इस कविता पर काम पूरा नहीं हो सका था, लेकिन यह इसी श्रृंखला की कविता है।

❑❑❑

अज्ञेय के रचना-संघर्ष को बहुस्तरीय कहने के पीछे मंशा यह है कि वे प्रयोग-विश्वासी रचनाकार हैं और विरोधों से शक्ति पाते हैं। चोट खाकर वे घुटने नहीं टेकते, बल्कि निर्भय-मुद्रा में कहते हैं—'मैं वह धनु हूँ जिसे साधने में प्रत्यंचा टूट गई है। स्खलित हुआ है ब्राण, यद्यपि ध्वनि दिग्दिगंत में फूट गई है।' अज्ञेय के सृजन बाण ने हिंदी सर्जनात्मकता के अंधकार को छाँटकर नया प्रकाश दिया है। उनकी शिक्षा-दीक्षा विज्ञान और अंग्रेजी में हुई और उन्होंने भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में प्राणों की बाजी लगा दी और जेल गए। इसलिए उनके रचना स्वर में संवेदन के न जाने कितने अनगिनत स्तरों पर मुक्ति भाव की महती प्रतिष्ठा है। प्रत्येक संस्कृति-समाज-भाषा की उन्नति एक विशिष्ट परंपरा होती है, बल्कि एक संस्कृति विशेष में होने से ही विशिष्ट संवेदना-समाज, भाषा-उपमान, लय, टोन का संदर्भ जुड़ा होता है। परंपरा के भीतर से फूटती आधुनिकता ही सर्जनात्मक विकास का व्यंजक होती है। इसके साथ परंपरा-प्रयोग और आधुनिकता के सामने इतिहास की अपनी चुनौतियाँ होती हैं। भाव-संवेदना का नया 'पाठ' पुराने अभ्यास जड़ संस्कारों पर प्रहार करता है और बीहड़ों में नया मार्ग खोजता है। अज्ञेय कविकर्म का संकट झेलते हुए ही इस बीहड़ पथों से 'राही नहीं राहों के अन्वेषी' बन सके।

अज्ञेय के रचना-कर्म की अपूर्व आधुनिकता है नए प्रयोगों से नई राहों का अन्वेषण और अपनी पूरी समकालीन सृजन-पीढ़ी को साथ लेकर चलने का संकल्प। यह संकल्प ही नई स्थिति का तर्क बनता है—हारिल का प्रतीक बनकर सामने आता है।

(भूमिका से)

सस्ता साहित्य मण्डल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन
एन-77, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 23310505, 41523565
Visit us at : www.sastasahityamandal.org
E-mail : manager@sastasahityamandal.org

ISBN 978-81-7309-477
9 788173 094774